हिन्दी के कतिपय मुसलमान कवि

डा0 शैलेश ज़ैदी

हिन्दी के कतिपय मुसलमान कवि

A subvention of two thousand Rupees [Rs. 2000-00] from the Faculty of Arts, Aligarh Muslim University, Aligarh is gratefully acknowledged.

कला संकाय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के दो हज़ार रुपए के अनुदान के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की जाती है ।

हिन्दी के
कतिपय मुसलमान कवि

लेखक
डॉ० शैलेश ज़ैदी
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

यूनिवर्सिटी पब्लिशिंग हाउस
अलीगढ़

हिन्दी के कतिपय मुसलमान कवि

HINDI KE KATIPAI MUSALMAN KAVI

By

Dr. SHAILESH ZAIDI

LECTURER, DEPTT. OF HINDI, A.M.U. ALIGARH

आवरण सज्जा : डा० शैलेश जैदी

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
नवयुग प्रेस
ावीरगंज, अलीगढ़

प्रकाशक :
एस० अली जाफ़र
यूनिवर्सिटी पब्लिशिंग हाउस अलीगढ़

परम पूज्य गुरुदेव

डॉ० छैल बिहारी लाल गुप्त

(कला संकायाध्यक्ष, कुमायूँ विश्वविद्यालय)

के कर कमलों में

सम्मान सहित समर्पित

पूर्व-शब्द

हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि में भारत के सभी धर्मों और संप्रदायों के अनुयायियों ने समान रूप से योगदान दिया है। संप्रदाय विशेष के प्रति अपनी रागात्मकता के अनुरूप हिन्दी के साहित्येतिहास लेखकों ने मध्य युग तक के उपलब्ध साहित्य को आंका और परखा है। इस प्रसंग में हिन्दी के वैष्णव साहित्य को जो महत्व प्राप्त हो सका है वह अन्य आस्थाओं से संबद्ध साहित्य को नहीं मिल सका है। सिद्धों और नाथों की रचनाओं को असाहित्यिक अथवा साम्प्रदायिक कह कर आगे बढ़ जाने से काम नहीं चलता। जैन और सिख मतावलम्बी साहित्यकारों की रचनाओं के प्रति भी हिन्दी के साहित्येतिहास लेखकों की अरागात्मकता देखी जा सकती है। प्रश्न यह है कि साहित्य के मूल्यांकन का वह कौन सा प्रतिमान है जो तुलसी की **विनय पत्रिका** को एक श्रेष्ठ रचना के रुप में प्रस्तुत करता है और **पउम चरिउ** तथा **नानकवाणी** को उस कोटि में नहीं रखने देता ?

हिन्दी में वैष्णव भक्ति के विवेचन और उसके प्रमुख अप्रमुख कवियों तथा शाखाओं उपशाखाओं के परिचय में साहित्येतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ भर दिये जाते हैं। यह प्रवृत्ति जैन, सूफी तथा सिख साहित्यकारों का विवेचन करते समय नहीं दिखाई पड़ती। सांप्रदायिक दृष्टि से देखने पर जो महत्व वैष्णव साहित्य का है वही सूफ़ी साहित्य, सिक्ख साहित्य और जैन साहित्य का भी है। साहित्यक दृष्टि से अवलोकन करने पर साहित्य का अपना एक पृथक् धर्म है। साहित्य न तो वैष्णव होता है, न जैन, न सूफ़ी, न सिक्ख

और न ही सगुण अथवा निर्गुण। साहित्य केवल साहित्य होता है। मानव जीवन की अभिव्यक्ति ही उसका सहज धर्म है। साहित्य को संकीर्ण दायरों में कसकर नहीं देखा जा सकता। हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन के नाम पर अब तक जो भी हुआ है वह कुछ विशिष्ट साहित्यकारों और संप्रदायों का ब्योरा मात्र है।

हिन्दी साहित्य के आविर्भाव काल को एक क्रान्तिकारी युग के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह क्रान्ति बौद्ध धर्म की विरासत के रूप में सिद्ध और नाथयोगी विचारकों को प्राप्त हुई। यह ब्राह्मणों के धार्मिक, बौद्धिक और शैक्षणिक शोषण की प्रतिक्रिया थी जिसने भारत की साधारण जातियों के बीच से बड़े-बड़े तत्व चिन्तक उत्पन्न किये। ब्रह्म, जीव और जगत् की व्याख्या और इनके पारस्परिक संबंधों का विवेचन अब ब्राह्मण शास्त्राचार्यों के ही विचार करने का विषय नहीं रहा। सामान्य जनता इन विषयों पर, शास्त्रों की भाषा में नहीं, अपनी भाषा में अब खुल कर बात-चीत कर सकती थी। यह भाषा तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग की नहीं अपितु जनता की भाषा थी। जैन और सूफ़ी विचारकों ने इसी भाषा को आत्मीयता प्रदान की और इसकी समृद्धि में पूरी आस्था के साथ जुट गये। यही वह भाषा थी जो चिश्ती सूफ़ियों का स्नेह पाकर अजमेर से दिल्ली और दिल्ली से बंगाल, गुजरात तथा गुलबरगा तक पहुँची। इस प्रकार हिन्दी का आविर्भाव काल धार्मिक, बौद्धिक, शैक्षणिक और भाषायिक क्रान्ति का युग था।

हिन्दी में आदिकाल और भक्तिकाल का परंपरागत विभाजन अर्थहीन है। जिस भक्ति काल को संवत् १३७५ से प्रारम्भ करते हैं उसकी निर्गुणवादी विचारधारा का प्रवाह उत्तरी भारत में बहुत पहले से चला आ रहा था। निर्गुण काव्य के अन्तर्गत संत काव्य और सूफ़ी काव्य जैसा वर्गीकरण भी कोई स्वस्थ आधार नहीं रखता। वस्तुतः तथाकथित भक्ति काल तक का हिन्दी साहित्य ब्रह्म, जीव. और जगत् की व्याख्या करता हुआ ही दृष्टिगत होता है। इसका मूल्यांकन निर्गुण और सगुण के नाम पर नहीं अपितु ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद, निरीश्वरवाद, वहदतुल वुजूद, वहदतुश शहूद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में किया जाना चाहिए। इस प्रकार सूफ़ी, सन्त, वैष्णव, सिक्ख, जैन आदि के साम्प्रदायिक आवरण से साहित्य को मुक्त किया जा सकता है। कुछ साहित्येतिहास लेखक संतों और सूफ़ियों के साहित्य के प्रसंग में

'पैग़म्बरवाद' 'ख़ुदावाद' और मुसलमानी धर्म जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस्लाम धर्म में न तो ऐसा कोई वाद है और न ही ऐसा कोई धर्म। जिस प्रकार हिन्दू धर्म को हिन्दुई धर्म कहना अनुपयुक्त है उसी प्रकार इस्लाम को मुसलमानी धर्म कहना असंगत है।

हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करते समय संवत् १२५० तक के साहित्य को भाषायिक तथा बौद्धिक क्रान्ति का युग मानना मेरी समझ से अधिक उपयुक्त है। फिर संवत् १२५० से १६५० तक के युग को हिन्दी साहित्य का आदि युग समझना चाहिए। इसके अन्तर्गत संप्रदायबद्ध तथा संप्रदाय मुक्त काव्यों का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन किया जाना चाहिए। संवत् १६५० से संवत् १९०० तक के साहित्य को मध्य युग की संज्ञा दी जानी चाहिए और इसमें रीति बद्ध तथा रीति मुक्त साहित्य का विभाजन होना चाहिए। रीति मुक्त साहित्य के अन्तर्गत शृंगार काव्य तथा आध्यात्मिक काव्य को पृथक्-पृथक् स्थान दिया जाना चाहिए। काल विभाजन का एक दूसरा तरीक़ा यह भी हो सकता है कि भारतीय इतिहास के विभाजन को सामने रखकर साहित्येतिहास का काल विभाजन किया जाय। इस स्थिति में हिन्दी साहित्य का इतिहास कुछ इस प्रकार होगा—(१) पूर्व सल्तनत कालीन साहित्य (२) सल्तनत कालीन साहित्य (३) मुग़ल कालीन साहित्य (४) ब्रिटिश कालीन साहित्य—पराधीनता का युग (५) स्वतन्त्रता-पूर्व हिन्दी साहित्य—जागरण काल और (६) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य। इस विभाजन से एक लाभ यह भी होगा कि साहित्योतिहास का पाठक भारतीय इतिहास से बहुत निकट से जुड़ा रहेगा।

इतिहास लेखक की दृष्टि तटस्थ, संतुलित और प्रमाणों पर आधारित होनी चाहिए। भारतीय इतिहास का प्राचीन काल न तो हिन्दू काल था और न ही मध्य काल मुस्लिम काल। जो इतिहास लेखक इस देश की एक हज़ार वर्षों की गुलामी की चर्चा करते हैं वे केवल अपनी सांप्रदायिक दृष्टि का परिचय मात्र दे पाते हैं। गुप्त, मौर्य, चालुक्य, अफ़ग़ान, तुर्क, लोदी, मुगल आदि जातियों ने भले ही इस देश पर शासन किया हो, पर इनका शासन काल हिन्दू काल अथवा मुस्लिम काल नहीं कहला सकता। जिस समय भारतीय इतिहास का हिन्दू पाठक यह पढ़ता है कि मध्य युग में मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ बहुत अत्याचार किया तो उसके मन में मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह मुसलमानों का हिन्दुओं के

साथ अत्याचार नहीं अपितु शासक का प्रजा के साथ अत्याचार था। मध्य युग में मुसलमानों ने मुसलमानों के साथ जो अत्याचार किये वह भी कुछ कम नहीं थे।

हिन्दी के जीवित साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में जो ऐतिहासिक संकेत किये हैं उन्हें यदि आधार मान कर भारतीय इतिहास के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन किया जाय, तो अधिक समीचीन होगा। कबीर ने खुलकर हिन्दुओं और मुसलमानों के पाखण्ड को लताड़ा है। गुरु नानक देव ने काज़ियों, मुल्लाओं और पण्डितों से आंखों में आंखें डाल कर बातें की हैं और क़ुरआन और अल्लाह की ओर लोगों के अनावश्यक रूप से झुकने का संकेत किया है। तुलसी ने अन्धी जनता के बहराइच दौड़ने की चर्चा की है। किन्तु किसी भी जीवित साहित्यकार की रचना में देव मन्दिरों के ढाये जाने और देवताओं के अपमानित किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता। मैं यह नहीं कहता कि मध्य युगीन शासकों ने देव मन्दिर नहीं ढाये, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि कारण चाहे जो भी रहा हो, साहित्यकारों पर इसकी कोई प्रतिक्रिया परिलक्षित नहीं होती। क़ाज़ियों और मुल्लाओं को लताड़ने में भारतीय सूफ़ी चिन्तक भी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। आस्थाओं की दृष्टि से शेरशाह और हुमायूँ दोनों ही मुसलमान थे। किन्तु तत्कालीन सूफ़ियों की सहानुभूति शेरशाह के साथ थी हुमायूँ के साथ नहीं। अलाउद्दीन भी मुसलमान ही था किन्तु मालिक मुहम्मद जायसी ने शैतान के प्रतीक के रूप में उसे प्रस्तुत करने में कोई संकोच नहीं किया। कहने का आशय यह है कि मध्य युगीन साहित्य जिस धरातल पर खड़ा था उसे उसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। देव मन्दिरों के ढाये जाने की प्रतिक्रिया स्वरूप यदि वैष्णव आन्दोलन उभरता, तो वे निरंकुश शासक इसे पनपने ही क्यों देते? शासन की ओर से वैष्णव आन्दोलन का कोई विरोध हुआ हो इसका एक भी प्रमाण नहीं मिलता। हाँ मुगलों की हिन्दी रचनाओं में वैष्णव आस्थाओं की झलक अवश्य मिल जाती है।

मध्ययुगीन भारतीय समाज में विशाल स्तर पर मत-वैभिन्य होते हुए भी साहित्यक स्तर पर एक सूत्रता की ध्वनि मिलती है। यह एक सूत्रता ईश्वर में आस्था की एक सूत्रता थी। जहाँ सिद्धों और नाथ योगियों ने शास्त्राचार्यों के बन्धन से साहित्य को मुक्त करके सामान्य जनता के बीच रखा,

वहीं सूफ़ी साधकों ने भी मुल्लाओं की संकीर्ण दृष्टि से साहित्य की सुरक्षा की। हिन्दी का यह सौभाग्य है कि उसके काव्य साहित्य का पालन पोषण भारतीय जनता ने किया। शंकराचार्य के बौद्धिक चिन्तन का प्रभाव बुद्धि जीवी वर्ग तक सीमित था किन्तु गोरखनाथ, बाबा फ़रीद, कबीर, गुरूनानक देव और तुलसी की वाणी आम जनता की पूँजी थी।

ईसा की १२वीं १३वीं शताब्दियों में नाथ योगियों की साधना पद्धति बहुत लोकप्रिय थी। भारतीय सूफ़ियों ने इस साधना पद्धति से बहुत कुछ सीखा और ग्रहण किया। नाथ योगियों के चमत्कारों में सूफ़ियों की आस्था नहीं थी किन्तु प्राणायाम के द्वारा श्वांस नियंत्रण का नियम सूफ़ियों को स्वीकार्य था। योगियों का वेश बनाकर घूमने वाले पाखण्डियों की भी कमी नहीं थी। इन पाखण्डियों ने योगियों की लोकप्रियता का धीरे-धीरे ह्रास सा कर दिया। फिर भी १७वीं शताब्दी ई० तक योग साधना का क्रम किसी न किसी रूप में चलता रहा। सूफ़ियों की लोकप्रियता से भी नाथ योगी साधना पृष्ठि भूमि में चली गई। वैष्णव आन्दोलन ने सूफ़ियों के चिन्तन का सत् तत्व ग्रहण किया, किन्तु योगियों के प्रति इसे भी कोई आस्था नहीं थी। सिक्ख आन्दोलन की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है किन्तु इस आन्दोलन का प्रभाव सूफ़ी अथवा वैष्णव आन्दोलन की भाँति व्यापक नहीं था। सिक्ख गुरुओं की शिक्षा लगभग उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थी जिसका प्रचार और प्रसार बाबा फ़रीद, ख़्वाजा बन्दा नवाज़ और कबीर कर रहे थे। अन्तर केवल यह था कि बाबा फ़रीद और कबीर ने किसी नये धर्म की घोषणा नहीं की जब कि सिक्ख आन्दोलन ने एक धार्मिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

सूफ़ी सन्तों ने भारतीय तत्व चिंतकों को कभी घृणा की दृष्टि से नहीं देखा। प्रेम को मूल मंत्र मानकर चलने वाले यह साधक मानव को इसी प्रेम सूत्र में बाँध रहे थे। सूफ़ियों की रचनाओं में भावाभिव्यक्ति के लिए समयानुसार नाथ योगी और वैष्णव शब्दावली का खुलकर प्रयोग किया गया। सूफ़ी कवि चाहे प्रेमाख्यानककार हो अथवा स्फुट रचनाकार उसकी काव्य रचनाओं में किसी भी संप्रदाय के प्रति मन मुटाव की गन्ध नहीं। सूफ़ियों का ब्रह्म मुस्लिम एकेश्वरवादियों के ब्रह्म से भिन्न है। इस दृष्टि से भारतीय सूफ़ियों को कुछ एक अपवादों के साथ, एकेश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के अधिकांश सूफ़ी कवि मूलतः केवलत्ववादी थे। केवलत्ववाद

के सिद्धान्त का प्रतिपादन इब्ने अरबी ने किया था। आगे चलकर **गुलशने राज** के लेखक महमूद शाबिस्त्री के प्रयत्नों से इस सिद्धान्त को और भी लोकप्रियता प्राप्त हुई। केवलत्व का सिद्धान्त अवतारवाद से बहुत निकट होते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न था।

हिन्दी में हिन्दी के मुसलमान कवियों को लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। किन्तु इन ग्रन्थों को परिचयात्मक विवरण मात्र कहा जा सकता है। कवि अपने युग की चिन्तन धारा से कटकर जीवित नहीं रह सकता। वह मुसलमान हो अथवा हिन्दू, युगीन चिन्तन धारा का प्रभाव उसपर निश्चित रूप से पड़ेगा। मध्य युगीन हिन्दी काव्य का अध्ययन उस समय तक एकांगी होगा जब तक मध्ययुग की सभी चिन्तन धाराओं पर दृष्टि न हो। सूफ़ियों ने भारतीय प्रेमकथाओं को काव्य रचना का विषय इसलिए बनाया कि यह परम्परा सूफ़ियों के मध्य बहुत पहले से प्रचलित थी। मौलाना रूम की मसनवी में अनेक भारतीय कथाएँ फ़ारसी भाषा के माध्यम से व्यक्त हुईं। फ़ैज़ी ने **नल दमन** की कथा को फ़ारसी काव्य में ढालकर अमरत्व प्रदान किया। कथा का महत्व भारतीय अथवा विदेशी होने में नहीं है। ईरान और अरब की कथाओं को भारतीय वातावरण में प्रस्तुत करके उनका भारतीयकरण किया जा सकता है। मीर अनीस ने करबला की घटना से सम्बन्धित अनेक मरसिये रचे। उनके पात्रों के नाम वही हैं जो अरब के पात्रों के वास्तविक नाम हैं। किन्तु संस्कारों की दृष्टि से वे भारतीय पात्र हैं और संस्कृति की दृष्टि से उनकी रचनाओं में अवध की संस्कृति ही झलकती है। ऐसी परिस्थिति में चाहे किसी रचना में यूसुफ़ ज़ुलैख़ा की कथा व्यक्त हुई हो अथवा पदमावत और रत्नसेन की, कवि यदि भारतीय है, तो उसकी रचना में भारतीय आत्मा की ध्वनि भी मिलनी चाहिए। हिन्दी के प्रेमाख्यानककार कवियों में यह ध्वनि सर्वत्र महसूस की जा सकती है।

जायसी के **पदमावत** को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह उनकी **अखरावट, आखिरी कलाम** आदि रचनाओं को नहीं मिल सकी। हिन्दी के आलोचकों ने इन रचनाओं को साहित्यक महत्त्व की वस्तु नहीं माना। कारण यह है कि वे इन रचनाओं में विद्यमान संकेतों के प्रति कोई रागात्मकता नहीं रखते। मैं समझता हूँ कि हिन्दी लेखकों को वैष्णवेतर काव्य का अध्ययन सहानुभूति पूर्वक करना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन में हिन्दी के ८ ज्ञात-अज्ञात मुसलमान कवियों

के जीवन परिचय, वर्ण्य-विषय और रचनाओं के साहित्यिक स्तर का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः यह १९६३ से १९७० तक विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेख हैं जिन्हें संशोधित रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। अद्दहमाण विषयक लेख जब सम्मेलन पत्रिका प्रयाग में प्रकाशित हुआ तो मुझे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस लेख के लिए बधाई दी ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में इसकी सामग्री को देने का आश्वासन दिया। उस समय यह लेख बहुत छोटा था और इसमें कवि के जीवन से सम्बन्धित सामग्री ही प्रस्तुत की गई थी। अब **संनेहरासउ** के वर्ण्य-विषय, विरह तथा प्रकृति-वर्णन और सांस्कृतिक मूल्यांकन के माध्यम से और भी नवीन सामग्री जोड़ दी गई है। यह सामग्री सर्वथा मौलिक है और मेरा विश्वास है कि **संनेहरासउ** के अध्ययन में इसकी उपयोगिता बहुत अधिक होगी। वास्तविकता यह है कि कि **संनेहरासउ** श्रृंगार काव्य न होकर सूफ़ी परंपरा की ही रचना है और इसका मूल्यांकन इसी परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए।

हमीदुद्दीन नागौरी और अब्दुल कुद्दूस गंगोही का महत्व साहित्येतिहास लेखन में तद्युगीन प्रवृत्तियों के अध्ययन की दृष्टि से बहुत अधिक है। नाथ पंथी विचारधारा से सूफ़ी विचारधारा जिस सीमा तक प्रभावित हुई है उसका स्पष्ट संकेत इन कवियों के अध्ययन से मिलता है। रसखान का जीवनवृत्त अभी तक अन्धकार में रहा है। इस विषय पर पी-एच डी. की उपाधि लेने वाले शोधार्थियों ने भी इस दिशा में कोई नवीन सामग्री प्रस्तुत नहीं की है। रसखान विषयक लेख इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसमें ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर रसखान के जीवनवृत्त को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

शाह मुहम्मद और फ़ैज़ी, दोनों ही उपेक्षित कवि रहे हैं। इनका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करके इनकी हिन्दी सेवाओं को उजागर करना ही लेखक का अभीष्ट रहा है। शाह मुहम्मद की रचना **सिंगार सतक** का दो प्रतियों के आधार पर शुद्ध पाठ भी प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रकाश में कवि के साहित्यिक स्तर का भी संकेत मिलता है।

नेही और मीरन दोनों ही प्रतिभावान कवि हैं किन्तु इनके प्रसंग में अभी कोई कार्य नहीं हुआ है। नेही की प्रतिभा का अनुमान तो इस बात से

किया जा सकता है कि वे ईरानवासी थे और भारत में आने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी सीखी थी। हिन्दी में एक विदेशी की इतनी गहरी पैठ को देखकर आश्चर्य होता है। नेही और मीरन दोनों ही सम्राट् औरंगजेब के निकट सम्पर्क में थे और उसके विशिष्ट कृपा-पात्र भी थे। औरंगजेब स्वयं भी हिन्दी में कविता करता था और उसकी सन्तान भी इस भाषा का न केवल ज्ञान रखती थी अपितु इसमें काव्य रचना भी करती थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्राट् औरंगजेब के युग में हिन्दी काव्य और भाषा की अपेक्षित समृद्धि हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु आदरणीय प्रो० मुखतारुद्दीन अहमद कला संकायाध्यक्ष, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की कृपा से कला संकाय की ओर से दो हज़ार रुपये का अनुदान दिया गया है। इसके लिए मैं प्रो० अहमद के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक को अपने गुरु मान्यवर डा० छैल बिहारीलाल गुप्त को समर्पित करके मुझे जो आत्मतोष मिला है उसे व्यक्त नहीं कर सकता। जीवन में मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा और पाया है और भविष्य में भी उनका आशीर्वाद बना रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है। आशा है मेरी यह तुच्छ भेंट वे सहर्ष स्वीकार करेंगे।

नवयुग प्रेस के व्यवस्थापक प्रियवर विजय कुमार गुप्त ने इसके प्रकाशन में विशेष रुचि ली है। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

यह पुस्तक छप ही रही थी कि मेरा बेटा शोनू अचानक अत्यधिक बीमार पड़ गया। हस्पताल में उसके साथ रहकर पुस्तक का प्रूफ आदि देखा गया है, इसलिए कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं। उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। हस्पताल में मुझे अपनी पत्नी शबनम का जितना हाथ बटाना चाहिए था, प्रयत्न के बावजूद मैं उतना नहीं कर सका हूं। यह उनकी शालीनता है कि कष्ट झेलकर भी उन्हें मुझसे कोई शिकायत नहीं है। पुस्तक अब जिस रूप में प्रकाशित हो रही है हिन्दी पाठकों के लिए यदि उपादेय सिद्ध हुई तो इसे मैं अपना सौभाग्य समझूँगा।

अलीगढ़ **शैलेश जैदी**

२६ जनवरी, १९७७ ई०

अनुक्रम

परिशिष्ट

संनेहरासउ के रचयिता

अद्दहमाण

१ संनेहरासउ के रचयिता अद्दहमाण

संनेहरासउ मध्ययुगीन भारतीय काव्य की उपलब्ध कृतियों में प्रथम मुसलमान कवि अद्दहमाणकृत एक अनुपम एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। यद्यपि फ़ारसी के तज़किरों (संदर्भ-ग्रन्थों) में 'भाषा' के प्रथम मुसलमान कवि के रूप में मसऊद साद सलमान (र० का० ११३० ई०) की चर्चा की जाती है, किन्तु, उनकी रचनाएं अप्राप्य हैं। इस आधार पर अद्दहमाण को 'भाषा काव्य' का सर्व प्रथम मुसलमान कवि स्वीकार करना न्याय-संगत है।

हिन्दी के शोधार्थियों की प्रवृत्ति मध्ययुगीन कवियों तथा उनके ग्रन्थों के नाम का तत्समीकरण करने की रही है। फलस्वरूप **संनेह रासउ** का परिचय हिन्दी जगत में **संदेश रासक** के रूप में हुआ है और अद्दहमाण मूल अरबी शब्द का ज्ञान न होने के कारण अब्दुल रहमान (शुद्धरूप= अब्दुर्रहमान) के रूप में जाने गये हैं[1]। अरबी भाषा में कुछ अक्षरों को **क़मरी** और कुछ को **शम्सी** कहते हैं। जिन शब्दों के पहले 'अलिफ़' और 'लाम'

---

१. **मेरी दृष्टि में सम्पादक को किसी भी ग्रन्थ के मूल नाम में संशोधन करने का अधिकार नहीं है। मैं संदेश रासक के स्थान पर संनेहरासउ कहना शुद्ध और तर्क संगत समझता हूँ। कवि अद्दहमाण ने इसी नाम का उल्लेख किया है।**

का योग करने पर 'लाम' उच्चरित होता है उनके पहले अक्षर को **'क़मरी'** कहते हैं। जैसे – अल्+क़मर = अल्क़मर, अल्+फ़ारूक़ = अल्फ़ारूक़ अल् + बातिन = अलबातिन इत्यादि। इसी प्रकार जिन शब्दों में 'लाम' उच्चरित नहीं होता उनके पहले अक्षर को **शम्सी** कहते हैं। जैसे— अल+शम्स = अश्शम्स, अल्+रहमान = अर्रहमान, अल+समद = अस्समद इत्यादि। अब्दुर्रहमान भी ऐसा ही शब्द है। अरबी में 'अब्द' गुलाम को कहते हैं और 'रहमान' ईश्वर का एक गुणवाचक नाम है। इस प्रकार अब्दुर्रहमान का अर्थ हुआ 'ईश्वर का दास या गुलाम।

अद्दहमाण का जीवन परिचय

अद्दहमाण ने **संनेहरासउ** के प्रारंभिक छंदों में कर्तार (ख़ालिक़) की स्तुति के पश्चात् अपना परिचय इन शब्दों में कराया है—

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।
तह विसए संभूओ आरद्द मीरसेणस्स ॥
तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीय विसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेह रासयं रइयं ॥[१]

इनमें से प्रथम छंद का अर्थ टिप्पनक में इस प्रकार मिलता है—

प्रतीच्यां पश्चिमदिशि प्रभूतः पूर्वप्रसिद्धो म्लेच्छनामा देशोऽस्ति।
तत्र विषये आरद्दो देशीत्वात् तंतुवायो मीरसेनाख्यः संभूतः उत्पन्नः।'[२]

अर्थात्— पश्चिम दिशा में म्लेच्छ नामक देश है जो पूर्व में बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ मीरसेन नामक जुलाहा (आरद्द) उत्पन्न हुआ।

'मिच्छ' देश के सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं—

"मिच्छदेसोत्थि का अर्थ टीकाकारों ने म्लेच्छनामा देशो' किया है। **प्राकृत शब्द महार्णव** में भी 'मिच्छ' का अर्थ म्लेच्छ दिया है। इस म्लेच्छ

---

१. अब्दुलरहमानकृत संदेश रासक [सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी] द्वितीय संस्करण १९६५ ई०, पृ० १४७
२. वही, पृ० ११

देश की ठीक-ठीक स्थिति हमें ज्ञात नहीं है। **मनुस्मृति** में म्लेच्छ देश को यज्ञिय देश के परे बताया गया है। ········ किन्तु इतने से म्लेच्छ देश का ठौर-ठिकाना अच्छी तरह नहीं लग सकता। केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि मिच्छ या म्लेच्छ देश से अब्दुर्रहमान का आशय संभवत: पश्चिमी पाकिस्तान या उसी के पास किसी प्रदेश से रहा होगा। कालान्तर में म्लेच्छ की संज्ञा पाने वाली अनेक आर्येतर जातियों का आगमन उसी ओर से हुआ। हो सकता है कि उस भूखण्ड को म्लेच्छ देश कहने की परंपरा कभी रही हो।"[1]

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने **पच्चाएसि** और **मिच्छ देसो** से 'प्रत्यादेश' और 'मिथ्यादेशना' अर्थों की स्थापना की है।[2] संभवत: उन्हें ऐसा इसलिए करना पड़ा है कि मायणी की व्याख्या से वे संतुष्ट नहीं थे।

मेरे विचार में आचार्य द्विवेदी द्वारा स्थापित उक्त छन्दों का नवीन अर्थ पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। वे लिखते हैं— "यह दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा—पूर्व देश में जो मिथ्या धर्म विश्वास व्यापक रूप से फैला हुआ है (उसके) प्रत्याख्यान (के पुण्य) से मीरसेन के घर में उसी मिथ्या धर्म के देश में एक आरद्द (१- घर आया हुआ, पुत्र और २- जुलाहा) उत्पन्न हुआ जो उसके कुल का कमल सिद्ध हुआ[3]।"

यदि इस अर्थ को ठीक मान लिया जाय तो मीरसेण के पश्चिम से पूर्व दिशा में आने की बात अधूरी रह जायेगी। फिर तो उन्हें पूर्व वासी ही मानना होगा। पूर्व देश में व्यापक रूप से फैले हुए मिथ्या धर्म का प्रत्याख्यान करने वाला उत्तर, पश्चिम या दक्षिण का किस प्रकार हो सकता है?

आचार्य द्विवेदी इसी स्थान पर यह भी लिखते हैं— 'मीरसेन धर्मान्तरित होने के बाद पूर्व देश में आ गये थे, वहीं अब्दुलरहमान का जन्म हुआ।'[4]

---

१. **विश्वनाथ त्रिपाठी: संदेश रासक में वर्णित जीवन; सम्मेलन पत्रिका, भाग ५०, सं० १, पृ० ११६**
२. **अब्दुलरहमान-कृत संदेश रासक, पृ० १३**
३. **वही, पृ० १४**
४. **वही, पृ० १३**

प्रस्तुत वाक्य में तथा उपर्युक्त उद्धरण के बीच विद्यमान अर्थ-विरोध को सहज रूप से देखा जा सकता है।

आरद्द शब्द को लेकर भी खूब-खूब अटकल लगायी गयी है और इनका अर्थ गृह-आगत करने के लिए इसे **आरद्ध'** शब्द माना गया है। 'आरद्ध' देशज शब्द है। आरद्ध से आरद्द शब्द बनाने की बात समझ में नहीं आती। 'अब्द', 'अद्र', तथा 'अर्द' से 'अद्द' बन सकता है—**'महण्णवो'** के प्रकाश में इतना मैं कह सकता हूँ। आरद्द शब्द को यदि आरद्ध मान लिया जाय, तो 'प्रवृद्ध', 'सतृष्ण' और 'गृह-आगत' के अतिरिक्त **'महण्णवो'** में इसका अर्थ आरब्ध, प्रारब्ध अथवा शुरू किया हुआ भी मिलता है। इस 'आरद्ध' शब्द के अनुसार तीसरे छंद की दूसरी पंक्ति का एक अर्थ यह भी हो सकता है—उस देश में मीरसेण का भाग्योदय हुआ।

मेरे विचार में **'आरद्द'** शब्द अरबी भाषा के **'अरद्द'** शब्द से बना है। अरबी शब्द कोश में **'अरद्द'** का अर्थ लाभप्रद तथा उपयोगी दिया हुआ है। मीरसेण को लाभ पहुँचाने वाला अथवा मीरसेण का लाभ उसका पुत्र ही हो सकता है। अतः यहाँ भी आरद्द शब्द का अर्थ 'पुत्र' किया जा सकता है। मुझे ऐसा लगता है कि **टिप्पनक में आरद्द** शब्द का अर्थ जुलाहा करके अन्य टीकाकारों के लिए ज़मीन हमवार कर दी गयी है। डा० माता प्रसाद गुप्त भी **आरद्द** का अर्थ जुलाहा करने के पक्ष में नहीं हैं। वे लिखते हैं—'आरद्द का अर्थ संस्कृत टीकाओं में जो देशीत्वात् तन्तुवायः किया गया है, वह निराधार लगता है।"[1]

आचार्य द्विवेदी को यद्यपि यह शब्द नया जान पड़ा और 'जुलाहा' के अर्थ में उनकी दृष्टि से कहीं नहीं गुज़रा, फिर भी वे अद्दहमाण के जुलाहा जाति का होने का दो टूक निर्णय कर देते हैं। ऐसा संभवतः उन्हें इसलिए करना पड़ा है कि उनकी दृष्टि में स्वयं कवि ने छंद १९ में **कोलिय** शब्द का प्रयोग अपने लिए किया है। मुझे अद्दहमाण को जुलाहा जाति का मानने में पर्याप्त आपत्ति है। मेरे विचार में यदि 'मीरसेण' शब्द पर ठीक से विचार किया गया होता तो बात स्पष्ट हो जाती। मीरसेण वस्तुतः मीर हुसैन शब्द

---

१. **डा० माता प्रसाद गुप्त : संदेश रासक के पाठ और अर्थ संशोधन के कुछ सुझावः 'भारतीय साहित्य' वर्ष ५, अंक १, पृ० ११०**

है जो अद्दहमाण के सैयद जाति का मुसलमान होने का संकेत करता है। **मिच्छ देसोत्थि** का अर्थ **म्लेच्छ नामादेशोऽस्ति** करना भी उचित नहीं है। **मिच्छद** शब्द **मिशहद** का ही बिगड़ा हुआ रूप है। 'मिशहद' अथवा 'मशहद' (दोनों ही उच्चारण प्रचलित हैं) ईरान के ख़ुरासान प्रान्त की राजधानी है और मुसलमानों के तीर्थस्थान की दृष्टि से इतिहास प्रसिद्ध है।"[1]

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मीरसेण का 'मीर' शब्द सैयद जाति का द्योतक है। सैयद जाति के लोगों में नाम के पूर्व सैयद और मीर दोनों ही शब्द प्रचलित हैं। इस प्रकार अद्दहमाण के पिता का नाम हुसैन और उनकी जाति 'मीर' अर्थात् सैयद मानना ही उपयुक्त है। वे मिशहद के रहने वाले थे यह बात भी सहज रूप से मान लेनी चाहिए।

मेरे विचार से छंद-संख्या ३ का अर्थ इस प्रकार किया जाना चाहिए—पश्चिम दिशा की पृथ्वी वाला प्राचीन काल से प्रसिद्ध मिशहद (नामक) देश है (मिच्छद+एस+त्थि)। उस देश में मीर हुसैन का (मीरसेणस्स) पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अर्थ के प्रकाश में अद्दहमाण के जीवन-सूत्रों को भी इतिहास में आसानी से खोजा जा सकता है।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अद्दहमाण के संबंध में बड़ी ही रोचक बात लिखी है—'ये मीर सेन जाति के आरद्द थे, आरद्द का अर्थ संदेश रासक की टीकाओं में तंतुवाय मिलता है। सौभाग्यवश आगे चलकर १९ वें छंद से इसकी पुष्टि भी हो जाती है। स्वयं अब्दुर्रहमान ने अपनी रचना को कोलिय पयासिउ अर्थात् कौलिक प्रकाशित या रचित कहा है। ············ इसके अतिरिक्त मीरसेन नाम भी देखने योग्य है। 'मीर' मुस्लिम जाति वाचक शब्द है तो 'सेन' हिन्दू धर्म बोधक। मीरसेन की ही भाँति मुसलमान कहे जाने वाले प्रसिद्ध गायक तानसेन के नामान्त में भी सेन है। कुछ लोगों के अनुसार तानसेन जन्मजात मुसलमान नहीं थे। साधारणतः 'सेन' मुस्लिम नामों के साथ लगा हुआ मिलता भी नहीं।"

इससे पूर्व कि इस प्रसंग में कोई बात कही जाय, **संनेह-रासउ** के **'कोलिय पयासिउ'** वाले छंद पर विचार कर लेना चाहिए। छंद इस प्रकार है—

---

१. उर्दू इन्साइक्लोपीडिया, कराँची (पाकिस्तान) पृ० १४२२

गिअ कवित्तह् विज्ज माहप्पु
पंडित पवित्थरणु मणुयजम्मि कोलिय पयासिउ ।
कोऊहलि भासिअउ सरलभाइ संनेहरासउ ।[1]

विश्वनाथ त्रिपाठी इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं— अपनी कविता की विद्या के माहात्म्य और पांडित्य को बढ़ाने वाले इस संदेशरासक की रचना, मनुष्यलोक में कौलिक ने कौतूहलवश सरल भाव से की है।'

मेरी समझ में इस छंद का अर्थ यदि इस प्रकार किया जाय तो अधिक ठीक रहेगा— 'अपनी कविता की विद्या के माहात्म्य को और उत्तम कुल के (कौलेय>कोलेय>कोलिय) पांडित्य को प्रस्तारित करनेवाला मनुष्य लोक में प्रकाशित अथवा ख्यातिप्राप्त **संनेहरासउ** सरल भाव में कौतूहल से प्रतिभासित है।'

'मीरसेण' के 'सेण' शब्द को विश्वनाथ त्रिपाठी ने तानसेन से लाकर मिला दिया है— यह ठीक नहीं जान पड़ता। **अद्दहमाण** को **अब्दुर्रहमान** इसलिए स्वीकार कर लिया गया कि टीकाकारों ने पहले से ही ऐसी व्याख्या कर दी थी, किन्तु **मीरसेण** को **मीरहुसेन** इसलिए नहीं समझा गया (यद्यपि यही शुद्ध है) कि इस ओर किसी ने संकेत ही नहीं किया था।

अद्दहमाण का समय १२ वीं शताब्दी ईसवी का माना जाता है और कबीर १५ वीं शताब्दी ई० के कवि थे। दोनों कवियों के समय में लगभग ढाई सौ वर्षों का अन्तर है ? डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रसंग में लिखते हैं कि 'जिन दिनों कबीरदास जुलाहाजाति को अलंकृत कर रहे थे उन दिनों ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।[2] अद्दहमाण और कबीर के बीच एकाध नहीं कई एक पुश्तों का अंतराल है। ढाई सौ वर्षों के दीर्घकाल को एकाध पुश्त नहीं कह सकते। इस प्रकार द्विवेदी जी के ही वाक्य की रोशनी में अद्दहमाण की जुलाहा होने की बात बहुत हलकी हो जाती है। और फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि **अद्दहमाण** के समय में जुलाहे धर्मान्तरित हो चुके थे तो एक बात फ़ौरन ही

---

१. **अब्दुलरहमानकृत संदेश रासक, पृ० १५०, छंद १६**
२. **डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, द्वितीयावृत्ति, १६७३ पृ० २०**

सवालिया निशान बनकर सामने आ जाती है। प्रश्न यह है कि **अद्दहमाण** की विद्वत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने संस्कृत के काव्यों का तथा **क़ुरआन शरीफ़** का निश्चय ही गंभीर अध्ययन किया था।

संनेहरासउ के प्रारंभ के दोनों छंद जो कर्तार या ख़ालिक़ की स्तुति में लिखे गये हैं **क़ुरआन शरीफ़** में विद्यमान **सूरेह बनी इसराईल, सूरेह जुमा** तथा **सुरेह नमल** की विभिन्न आयतों की ओर संकेत करते हैं। पहला छंद देखिए —

रयणायर गिरितरुवराइँ गयणंगणंमि रिक्खाइँ ।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो बुहयण वो सिवं देउ ॥

अर्थात् हे बुधजनो ! जिसने आरंभ में समुद्र, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष तथा आकाश रूपी आंगन में तारों (इत्यादि) सब को सिरजा वह तुम्हें कल्याण दे।

अब **क़ुरआन शरीफ़** के **सूरए नमल** की कुछ आयतें भी देखिए—

अम्मन् ख़लक़स्समावाति वल्अर्ज़ व अन्ज़ललकुम् मिनस्समाइ माअन् अफ़म्बत्नाबिही हदाइक़ ज़ात बहजतिन् माकान लकुम् अन् तुम्बित् शजरहा अइलाहुम्म अल्लाहि वल्हुम् क़ौमुइंयादिलून्। अम्मन् जअलल्अर्ज़ क़रारौं-वजअल ख़िलालहा अन्हारौं वजअल लहा रवसेय व जअल बैनल् बह्रैनि हाजिज़न् अइ लाहुम्मह अल्लाहि बल् अक्सरहुम् लायालमून्।

अर्थः भला किसने सिरजा आकाश और पृथ्वी को और उतार दिया तुम्हारे लिए आकाश से जल, फिर उगाये उससे बगीचे प्रकाशयुक्त, तुम्हारा काम न था कि उगाते उनके वृक्ष, अब कोई और हाकिम है अल्लाह के साथ ? कोई नहीं, वो लोग राह से मुड़ते हैं। भला किसने सिरजा पृथ्वी को ठहरने के योग्य, और बनायीं उसके बीच में नदियाँ, और रखा दो दरया में परदा, अब कोई और हाकिम है अल्लाह के साथ ? —कोई नहीं, बहुतों को उनमें समझ नहीं।—

संनेहरासउ के प्रथम प्रकरण का दूसरा छंद इस प्रकार है—

माणुस्सदिव्वविज्जाहरेंहि णहमग्गि सूरं-ससिबिंबे ।
आएहिँ जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं ॥

अर्थात् हे नागरजनों ! उस कर्तार को नमस्कार करो जो मनुष्यों, देवताओं, विद्याधरों और आकाश मार्ग पर (चलने वाले) सूर्य-चन्द्र-बिंबों तथा अन्य द्वारा नमस्कृत होता है ।

क़ुरआन शरीफ़ के १५ वें पारे में **सूरए बनी इसराईल** में है—"**तुसब्बिहु लहुस्समावातुस्सब्उ वल् अर्ज़ु व मन् फ़ी हिन्न वइम्मिन् शइयन् इल्ला युसब्बिहु बिहम्दिही वलाकिन्ला तफ़्क़हून तस्बीहहुम, इन्नहू कान हलीमन् ग़फ़ूरा ।**

अर्थः उसकी पवित्रता का वर्णन करते हैं सातों आकाश और पृथ्वी और जो कोई उनमें है, और कोई वस्तु नहीं जो नहीं करती स्तुति उसकी, किंतु तुम नहीं समझते उनकी स्तुति ! निश्चय ही वह (अल्लाह) है तहम्मुल वाला (धैर्यशील) और बख़शने वाला (दानशील)

इसी प्रकार **सूरए जुमा** की पहली आयत है— "**युसब्बिहु लिल्लाहि माफ़िस्समावाति व माफ़िल् अर्ज़ि**" अर्थात्—अल्लाह की स्तुति करता है जो कुछ है आकाशों में और जो कुछ है पृथ्वी में ।

स्पष्ट है कि अद्दहमाण ने **क़ुरआन शरीफ़** का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया होगा । नवधर्मान्तरित जुलाहा मुसलमान से इसकी आशा नहीं की जा सकती । अद्दहमाण के लगभग ढाई सौ वर्षों बाद जुलाहा कवि के रूप में कबीर का नाम लिया जाता है, किंतु कबीर अब्दुर्रहमान की परंपरा में नहीं रखे जा सकते । इस परंपरा में तो जायसी का नाम लिया जायेगा । ध्यान रहे कि जायसी जुलाहा नहीं थे, सैयद जाति के मुसलमान थे । अद्दहमाण के बाद उनकी परंपरा में आने वाले अन्य सभी मुसलमान कवि सैयद या शेख़ थे ।

'संनेहरासउ' की भाषा और उसके द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर श्री मुनिजिन विजय, **अद्दहमाण** को मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण से किंचित् पूर्वकाल का, ईसा की १२वीं शताब्दी का कवि मानते हैं ।[1] महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अद्दहमाण को ११ वीं शताब्दी का कवि माना है ।[2] डा० हजारीप्रसाद उनका समय १२ वीं तथा १३ वीं शताब्दी ई० निश्चित करते

---

१. मुनिजिनविजय, संदेशरासक प्रिफ़ेस, पृष्ठ १२ ।
२. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी-काव्य-धारा, पृष्ठ २६२ ।

हैं।[1] विश्वनाथ त्रिपाठी, मुनिजिनविजय के तर्कों को स्वीकार करते हुए अद्दहमाण का समय १२ वीं शताब्दी ई० ही मानते हैं।[2] डा० अम्बाप्रसाद सुमन ने भी उन्हें १२ वीं शताब्दी ई० के आस-पास का कवि माना है।[3]

लेखक ने संनेहरासउ के छंद संख्या ३ के प्रकाश में उन्हें 'मिशहद' देश (जनपद) का निवासी बताया है और उनके पिता का नाम मीरहुसैन स्वीकार किया है। इतिहास ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि मीरहुसैन मिशहदी ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के समकालीन थे और अजमेर के प्रसिद्ध संतों में गिने जाते थे। इम्पीरियल गजेटियर आव इण्डिया में इनका भी उल्लेख मिलता है।[4]

सियरूल आरोफ़ीन के लेखक श्री जमाली लिखते हैं—'सुलतान कुतुबुद्दीन ने सैयदुस्सादात हुसैन मिशहदी को अजमेर का दारोग़ा नियुक्त कर दिया था। उनका मज़ार तंबेली पर है।'[5]

मुफ़ती गुलाम मुहम्मद सरवर असदी गंजीनए सर्वरी में लिखते हैं—"सैयद हुसैन अज़ सादाते मिशहदे मुक़द्दस बूद, बनीयते शहादत हमराह सुलतान मुईज़ुद्दीन साम दर हिन्द तशरीफ़ आवुर्द व अज़ पेशगाहि सुलतान क़ुतुबुद्दीन एबक बहुकूमते अजमेर मामूर शुद व फ़ैज़े कामिल अज़ ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी हासिल नुमूद व आख़िर अज़ दस्ते कुफ़्फ़ारे अजमेर दर क़िला तंबेली (तारागढ़) शरबते शहादत चशीद ॥"[6]

भाव यह है कि सैयद हुसैन 'मिशहद' शरीफ़ के सैयदों में से थे। शहादत की इच्छा लेकर वे मुहम्मद गोरी के साथ भारत आये और सुलतान

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदि काल, पृष्ठ ४०।
२. विश्वनाथ त्रिपाठी, संदेशरासक, भूमिका पृष्ठ २३।
३. डा० अम्बाप्रसाद सुमन, अपभ्रंश और ब्रजभाषा, सम्मेलन पत्रिका, भाग ५०, सं० २-३, पृष्ठ ५७।
४. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑव इण्डिया, वॉल्यूम फ़िफ़्थ, १९०९ ई०, पृष्ठ १७०।
५. जमाली, सियरुल् आरिफ़ीन, मतैबा रिज़वी, देहली, पृष्ठ १३।
६. गुलाम मुहम्मद सर्वर असदी, गंजीनए सर्वरी, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, पृष्ठ १२२।

कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा अजमेर के हाकिम नियुक्त हुए। **ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती** से अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया और अजमेर के विधर्मियों द्वारा शहादत का रसास्वादन किया।

फरिश्ता के अनुसार— सैयदुस्सादात मीर हुसैन मिशहदी जो सूफ़ी मज़हब के थे और सादा तथा सरल जीवन व्यतीत करते थे, उच्च कोटि के संत थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने उनको अजमेर का दारोगा किया था।[1]

अबुल फ़ज़्ल ने अकबरनामा में लिखा है— **"बरोज़ेदीगर बतमाशए क़िलए अजमेर कि बर कोह् वाक़ा अस्त मुतवज्जह शुदन्द व दराँ आली-मुक़ाम ब ज़ियारत सैयद हुसैन ख़ंगसवार कि दर ज़बानि अवाम अज़ औलादि इमाम ज़ैनुल आबिदीन अस्त पर्दाख्तः मुतबर्रक जस्तंद व तहक़ीक़ आँस्त कि सैयद अज़ मुलाज़िमानि शहाबुद्दीन ग़ौरीस्त हंगामे कि फ़त्हहिन्दोस्ताँ करदः अरजेअत नुमूदः (५८८ हि० या ५८९ हि०)ऊ (मीराँ सैयद हुसैन राब शक़ः-दारी अजमेर गुज़ाश्त व ऊ आँजा नकदे हयात सुपुर्द व बमरद् हुजूम ब विलायत मशहूर गश्त व तुरबतश मताफ़े आलमियाँ शुद।"**[2]

अर्थात्, दूसरे दिन अजमेर का किला देखने गये। यह किला पहाड़ पर है। इस शुभस्थान पर **सैयद हुसैन खंग सवार** के मज़ार के दर्शन से कृतार्थ हुए। जनता इन्हें **इमाम ज़ैनुल आबिदीन** के वंश का (आबिदी सैयद) कहती है। शोध से पता चलता है कि वे **शहाबुद्दीन ग़ोरी** के मुलाज़िमों में से हैं और भारत विजय के अवसर पर (५८८ या ५८९ हि०) तशरीफ़ लाये थे। (शहाबुद्दीन गोरी ने)मीराँ सैयद हुसैन को अजमेर का हाकिम नियुक्त किया और यहीं उनका देहान्त हुआ। जनता में ये वली प्रसिद्ध हुए। और इनका मज़ार तीर्थस्थान बन गया।

हरविलास सारडा के अनुसार 'मीराँ हुसैन ख़ंग सवार की उर्फ़ियत 'मीराँ साहब' थी। उनके मज़ार की मान्यता संवत् १६१८ से बढ़ी, जब स्वयं पातसाह अकबर वहाँ गया था।[3]

---

१. मुहम्मद क़ासिम, तारीखे फरिश्ता, जिल्द दोएम् (उर्दू तरजुमा), नवलकिशोर, प्रेस, लखनऊ, पृष्ठ ५७३।
२. अबूल फ़ज़्ल, अकबरनामा, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पृष्ठ ४६५।
३. हरविलास सारडाः अजमेर, पृ० ७६।

तज़किरतुलआबिदीन [1], तथा **ख़ज़ीनतुल आसफ़िया** [2] के अनुसार हुसैन **मिशहदी** सन् ६१० हि० (१२१३ई०) में शहीद हुए। ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का दूसरा विवाह उनकी मृत्यु से सात या १७ सत्रह वर्ष पूर्व सैयद वजीहुद्दीन मिशहदी की कन्या से हुआ था। श्री वजीहुद्दीन रिश्ते में हुसैन मिशहदी के चचा होते थे।

हुसैन मिशहदी के संबंध में इससे अधिक और कुछ भी पता नहीं चलता। संभव है, आगे चलकर कुछ विशेष जानकारी प्राप्त हो सके। **संनेहरासउ** के रचयिता अद्दहमाण को यदि उक्त मीर हुसैन मिशहदी का पुत्र मान लिया जाय तो बहुत सी उलझनें दूर हो सकती हैं।

मीर हुसैन मिशहदी का वही समय है जो अद्दहमाण के पिता **मीरसेण** का स्वीकार किया जाता है और मिच्छदेसोत्थि से कवि का संकेत **मिशहद** देश की ओर है जो म्लेच्छ देश होने के साथ-ही-साथ पश्चिम दिशा में स्थित है और प्राचीनकाल से प्रसिद्ध भी है।

पच्चाएसि का अर्थ यदि प्रत्यादेश किया जाय तो भी सैयद हुसैन ने मिशहद छोड़ दिया था और वे ग़ोरी के साथ मुलतान होते हुए दिल्ली आये थे और उन्होंने अजमेर का दारोग़ा नियुक्त होने के बाद वहीं पर स्थायी रूप से निवास-ग्रहण कर लिया था।

'संनेहरासउ' में कवि ने जिस सामोरु नगर का वर्णन किया है वह मुलतान ही है। मुलतान का प्राचीन नाम कश्यपपुर है फिर उसका नाम हंसपुर पड़ा फिर भगपुर और इसके बाद साम्बपुर। विश्वनाथ त्रिपाठी ने मूलस्थान नाम को सब से नया माना है किंतु भूगोलशास्त्र के प्रख्यात पंडित **मसऊदी** के अनुसार— 'मुलतान, मूलस्थानपुरा' का बिगड़ा हुआ रूप है जो बौद्ध काल में इसके लिए प्रयुक्त होता था।[3]

संनेहरासउ के रचयिता अद्दहमाण मुलतान में कुछ दिन अवश्य रहे होंगे, ऐसी संभावना कई एक विद्वानों ने प्रकट की है। अजमेर तथा

---

१. नजीरअहमद देवबंदी, तज़किरतुलआबिदीन, अलीगढ़, पृ० २९९।
२. ग़ुलाम सर्वर लाहौरी, ख़ज़ीनतुल आसफ़िया, जिल्द अव्वल, पृ० २५५।
३. दि इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया, वाल्यूम एट्टीन्थ, पृ० २५

मुलतान के सूफ़ी संत एक दूसरे के प्रति बड़ी श्रद्धा और स्नेह रखते थे। संभव है अद्दहमाण इसी स्नेह के फलस्वरूप मुलतान से अजमेर और अजमेर से मुलतान आये-गये हों।

मुईनुल अर्वाह के लेखक मुहम्मद ख़ादिम हसन जुबेरी, ख़्वाजा मुईनुद्दीन का पांच बार भारत आना लिखते हैं। उनके अनुसार भारत में तीसरी बार ख़्वाजा साहब का आगमन शहबुद्दीन ग़ोरी के साथ ५८९ हि० (११९२ई०) में हुआ था। ग़ोरी अपनी सेना के साथ पेशावर से मुलतान आया था। सैयद हुसेन मिशहदी जो ग़ोरी के मुलाज़िमों में थे निश्चय ही इस अवसर पर साथ रहे होंगे। संभव है अद्दहमाण भी उनके साथ रहे हों और उन्होंने मुलतान के जनजीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया हो।

मुलतान पहला भारतीय नगर था जहाँ ख़्वाजा साहब ने पदार्पण किया था। ख़्वाजा साहब के आगमन से पूर्व भी मुलतान मुसलमान संतों और सूफ़ियों का प्रिय नगर था। श्री वहीद अहमद मसऊद लिखते हैं— "हिंदुस्तान का यह (मुलतान) पहला शहर था जहाँ पहली मरतबा हज़रते वाला ने क़दम रंजाँ फ़रमाया। हज़रते वाला का यहाँ क़याम मामूल से ज़्यादा रहा। न सिर्फ़ इसलिए कि यहाँ के मज़ारात की ज़ियारत और अहले अल्लाह से मुलाक़ात मंजूर थी बल्कि इसलिए भी कि इस्लामी हुकूमत और हिन्दुस्तानी हुकूमत का मुक़ाबला व मुवाज़ना कर सकें— इफ़हामो-तफ़हीम के लिए ज़बान का भी इस्तक़रा करना था।" इस उद्धरण में दो बातें बहुत स्पष्ट हैं—

१. ख़्वाजा साहब मुलतान में मामूल से अधिक रहे।

२. उनके ठहरने का कारण इस्लामी तथा भारतीय राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन करना तथा भाषा सीखना था।

बहुत संभव है कि **अद्दहमाण** ने भी ख़्वाजा साहब की ही तरह वहाँ की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन किया हो। **संनेहरासउ** में वर्णित सामोरु नगर अथवा मुलतान इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कवि ने वहाँ के जनजीवन को कितना निकट से देखा था और वह **'उतलबुल् इल्म व लौ कान बिस्सीन'** (ज्ञानार्जन करो चाहे वह 'चीन' से ही क्यों न प्राप्त हो) की हदीस को चरितार्थ करते हुए मुलतान छोड़ते समय अपने साथ भारतीय ज्ञान का भण्डार लेकर



निकला था। इन तर्कों के आधार पर अद्दहमाण का जीवनचरित संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

अद्दहमाण का जन्म पश्चिम दिशा में स्थित मिशहद देश में हुआ था जो प्राचीन काल से मुसलमानों के तीर्थस्थान के रूप में प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम मीरहुसैन था और वे सैयद जाति के थे। वे ख़ुरासन से शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ मुलतान होते हुए दिल्ली आये। कुछ दिनों तक दिल्ली में रहने के पश्चात् वे अजमेर में वहाँ के दारोगा नियुक्त हुए और स्थायी रूप से वहाँ के निवासी हो गये। मीरहुसैन की गणना अजमेर के प्रसिद्ध संतों में होती है। इनकी वंश शाखा इमाम जैनुलआबिदीन से जाकर मिलती है। ये आबिदी सैयदों की शाख में आते हैं।

संनेहरासउ का रचना काल

मुलतान आगमन के समय (५९९ हि०, ११९२ ई०) अनुमानतः अद्दहमाण की आयु यदि बाईस-तेईस वर्ष की मान ली जाय तो उनका जन्म सन् ११७० ई० के आस-पास ठहरेगा। मीरहुसैन मिशहदी का देहान्त सन् १२१३ ई० में हुआ। उस समय उन्हें किसने दफ़्न किया इसका पता नहीं चलता। कुछ लेखकों का विचार है कि उन्हें ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने दफ़्न किया था। किन्तु इतिहास से पता चलता है कि ख्वाजा साहब उस समय मुलतान में थे। अद्दहमाण ख्वाजा साहब के साथ मुलतान आते-जाते रहते थे। बहुत संभव है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त वियोग की तीव्र अनुभूति ने उन्हें काव्य रचना की ओर प्रेरित किया हो। इस आधार पर **संनेहरासउ** का रचना काल सन् १२१३ ई० के आस-पास स्वीकार किया जा सकता है। उस समय कवि की आयु लगभग ४३–४४ वर्ष की रही होगी।

संनेहरासउ का वर्ण्य-विषय

अब **संनेह रासउ** के वर्ण्य-विषय तथा साहित्यिक महत्व पर भी विचार कर लेना चाहिए। विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसे 'श्रृंगार प्रधान रासक काव्यों का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना है।'[1] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में 'अब तक

---

१. अब्दुलरहमान-कृत संदेश रासक, पृ० १४२.

प्रकाश में आने वाले सभी रास काव्यों में केवल यह ही ऐसा काव्य है जिसे पूर्ण लौकिक काव्य कहा जा सकता है।"[1] मैं **संनेहरासउ** को 'शृंगार प्रधान' अथवा पूर्ण लौकिक काव्य मानने के पक्ष में नहीं हूं। मेरी दृष्टि में यह एक आध्यात्मिक और भक्ति परक काव्य है और इसके रचयिता अद्दहमाण एक सूफ़ी संत कवि हैं। ग्रन्थ के प्रथम प्रक्रम के अन्तिम चार छंदों को ध्यान पूर्वक पढ़ने से मेरे विचारों की पुष्टि हो सकती है। सर्व प्रथम २३ वाँ छंद द्रष्टव्य है—

अइणेहिण भासिउ रइम इवासिउ,
सवणस कुलियह अभियसरो।
लइ लिहइ वियक्खणु अत्थह लक्खणु
सुरइसंगि जु विअड्ढ नरो॥

कवि का आशय यह है कि इस ग्रन्थ की रचना अत्यधिक स्नेह के साथ की गयी है और रहस्य भावना से ओतप्रोत है। यह कर्णपुटों में अमृत स्वर की भांति है। इसके अर्थ संकेत को वही विचक्षण ध्यान में ला पाता है जो सुरति योग में विदग्ध है।

इस छंद में **'रइमइ'**, **'लइ लिहइ'** तथा **सुरइसंगि** शब्द विशेष रूप से विचारणीय हैं। **'रइमइ'** का अर्थ मेरी समझ से रहस्य भावना किया जाना चाहिए, 'शृंगार भावना' अर्थ करने से कवि का अभिप्रेत अर्थ विलुप्त हो जाता है। अब **'लइ लिहइ'** शब्द को लीजिए। संस्कृत में प्राणवायु के लीन होने को अथवा चित्तवृत्ति के भीतर ही भीतर विलीन हो जाने की स्थिति को 'लय-योग' कहते हैं। सूफी काव्य में 'लइ' 'लय' अथवा 'लव' शब्द का प्रयोग अरबी के **'लायह'** शब्द के आधार पर भी माना जाता है। **लायह** का शाब्दिक अर्थ होता है प्रकट होने वाला। सूफ़ियों की साधना में **'लायह'** शब्द का प्रयोग **'तजल्लिए ज़ाती'** के लिए होता है। यह परम सत्ता की वह दिव्य ज्योति है जो साधक के हृदय में प्रज्ज्वलित होती है और उसे दिव्य सुख प्रदान करती है। **'लइ' लय, ल्यो** तथा **'लव'** शब्द एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। संतों ने इन शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। 'लौ' दीपशिखा को कहते हैं।

---

१ आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, प्रथम संस्करण, पृ० ८४

समाधि की अवस्था निवात-निष्कम्प दीपशिखा जैसी होती है। समाधिस्थ व्यक्ति वायु-हीन स्थान में जलती हुई दीप शिखा की भांति प्रज्ज्वलित और स्थिर होता है। कालिदास ने समाधिस्थ शिव को **'निवात निष्कंपमिव प्रदीपम्'** कहा है।[1] वस्तुतः चित्त का एकान्तिक ध्यानावस्थ भाव ही 'लय' अथवा 'लव' है। शरीर के भीतर संचरित होने वाले प्राण नामक वायुओं के निरोध होने से इस निरोधावस्था को 'लय' होना कहते हैं। **लय** और **'लव'** दोनों के मिश्रण से **'ल्यो'** शब्द बना है जिसका अर्थ है स्थिर भाव से चित्तवृत्तियों का निरोध।[2] स्पष्ट है कि अद्दहमाण ने 'लइ' के माध्यम से इसी अवस्था का संकेत किया है।

प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए **'सुरइसंगि'** का प्रयोग करके कवि ने अपनी बात बिल्कुल साफ़ कर दी है। **'सुरइसंगि'** से कवि का आशय **सुरति-योग'** से है। सिद्ध, नाथ और सन्त कवियों के यहां **'सुरतियोग'** का विशेष महत्व रहा है। हुजवेरी के प्रसिद्ध ग्रन्थ **कशफुल महजूब** के प्रकाश में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है कि १० वीं शताब्दी ई० में लाहौर ब्राह्मणों, बौद्धों, सिद्ध साधकों और इस्माईली विचारधारा के मुसलमानों के चिन्तन का केन्द्र था। ११ वीं शताब्दी में सिद्धों का मुलतान में ज़बरदस्त ज़ोर था और सूफ़ियों की ख़ानकाहें भी बड़ी संख्या में बन चुकी थीं। १२ वीं शताब्दी तक सिद्धों और नाथ योगियों की विचारधारा का प्रभाव सूफ़ी साधना पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा था। अद्दहमाण के काव्य का गूढ़ अर्थ **'सुरति योग'** में विदग्ध पुरुष ही स्थिर भाव से चित्त वृत्तियों का निरोध करके ध्यान में ला सकते हैं। अद्दहमाण और उनकी परम्परा के सभी सूफ़ियों ने सिद्धों और नाथ योगियों की साधना पद्धति के प्रभाव को ग्रहण किया है। शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी, बाबा फ़रीद, निज़ामुद्दीन औलिया, शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस गंगोही, मुल्ला दाऊद और मलिक मुहम्मद जायसी—सभी के यहां यह परम्परा मिल जायेगी।

'सुरति' अथवा **'सुरति योग'** शब्द हिन्दी के पाठक के लिए नया नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी **'सुरति'** के प्रसंग में लिखते हैं—सुरति शब्द पुराने स्मृति शब्द का अपभ्रंश है। स्मृति अर्थात् पुरानी बातों को याद करना

---

१. कालिदास : कुमार-संभव, ३/४८

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : संतों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में नये अर्थदान की क्षमता, भारतीय साहित्य, जनवरी १९६० ई०, पृ० १३

लेकिन इस स्मृति शब्द से जिस सुरति शब्द का विकास हुआ है वह केवल स्मृति रूप नहीं है। उसमें प्रेम का भाव भी है। निरति बाह्य विषयों के प्रति अनास्था और वैराग्य को सूचित करती है और सुरति आन्तर विषयों के प्रति आसक्ति।[१] सुरति योग में विदग्ध हुए बिना चित्त को स्थिर रखना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि अद्दहमाण ने **संनेहरासउ** के अर्थ लक्षणों अथवा गूढ़ार्थों को समझने का सामर्थ्य सुरति योग में विदग्ध पुरुष में ही माना है। ऐसा ही पुरुष गूढ़ार्थ सूचक लक्षणों को लय योग में लेख पाता है। लय योग वस्तुतः वासनाओं का ध्येय में लय करना ही है—**लयो विषय विस्मृतिः**[२]।

ऐसे ही सामर्थ्यवान व्यक्ति से अद्दहमाण ने हाथ पकड़कर निवेदन किया है कि यदि उसके हाथ में यह पुस्तक—**'सन्नेहरासउ'** पड़े, तो जो पंडित और मूर्ख का भेद करते हों उनके सामने वह इसे न पढ़े—

संपडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु,
तस कहउ विबुह संगहवि हत्थु।
पंडित्तह मुक्खह मुणाहि भेउ,
तिहि पुरउ पढिव्वउ ण हु वि एउ।[३]

यहां पण्डितों से अभिप्राय धर्मशास्त्र के आचार्यों अथवा शरीयत पर अमल करने वाले मुस्लिम आलिमों से है और मूर्खों से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जो परम तत्व को समझने की क्षमता नहीं रखते। मुस्लिम आलिम शायरी या काव्य रचना को एक शैतानी अमल समझते थे इसलिए काव्य के प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं थी। मुसलमानों के बीच परमतत्व के ज्ञान को काव्य के माध्यम से आम करने का श्रेय सूफ़ी साधकों को है। सूफ़ियों और सन्तों ने पण्डितों या आलिमों को तत्वज्ञाता नहीं माना है। वे उनमें और मूर्खों में भेद

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : सन्तो द्वारा प्रयुक्त शब्दों में नये अर्थदान की क्षमता, भारतीय साहित्य, जनवरी १९६०, पृ० १५
२. हठयोग प्रदीपिका, ४/३४
हठयोग प्रदीपिका के अनुसार समस्त इन्द्रियों का प्रेरक मन है, मन का प्रेरक मारुत है, मारुत का नाथ लय है और लय नादाश्रित है—
इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥४/२९
३. सन्देश रासक, १/२०

नहीं करते । मूर्ख अथवा अबुधजनों का अबुधत्व के कारण काव्य के गूढ़ार्थों को समझना सम्भव नहीं है और पण्डित इसे कुकाव्य समझकर इसकी ओर देखना भी नहीं चाहता । इसीलिए अद्दहमाण ने यह इच्छा व्यक्त की है कि उसका ग्रन्थ उन लोगों के बीच पढ़ा जाय जो न पण्डित हों न मूर्ख, बल्कि सन्तुलित बुद्धि के हों—

णहु रहइ बुहइ कुकुवित्त रेसु,
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु ।
जिण मुक्ख ण पण्डिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिव्वहु सव्ववार ।[1]

अद्दहमाण का **सन्नेहरासउ** ईश्वरासक्त जनों **(अणुराइय)** अथवा 'आशिक़ों' के लिए रहस्यगृह **(रइहरु)** अथवा 'ख़ानए-इश्क़' स्वरूप है और विषयासक्त जनों की इच्छाओं का हरण करने वाला है । यह सौन्दर्यशील परमात्मा के माहात्म्य अर्थात् जलवए हुस्ने जमील का दीपक है । विरहिणी (आत्माओं) के लिए मकरध्वज है । रसिकजनों अथवा 'सालिक' के लिए रस संजीवक अर्थात् आनन्ददायक है । इसलिए कवि का आग्रह है कि इसे विशुद्ध भाव से सुनो **(सुणहविसुद्धउ)** ।

अणुराइय रइहरू कामियमणहरू
मयण महप्पह दीवयरो ।
विरहिणिमइरद्धउ सुणह विसूद्धउ
रसियह रस सञ्जीवयरो ।।[2]

सूफ़ी साधना में 'इश्क़' का विशेष महत्व माना गया है । ख़्वाजा अत्तार ने 'इश्क़' को प्रत्येक हृदय की औषधि स्वरूप प्रकट हुआ माना है और इसके अभाव में उनके निकट किसी भी समस्या का समाधान नहीं हुआ । श्री चन्द्र बली पाण्डेय के अनुसार सूफ़ियों का प्रधान भाव रति है ।[3] यह रति' **'सिर्रे इलाही'** (दिव्य रहस्य) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । यही कारण है कि

---

१. **संदेशरासक, १/२१**
२. **वही, १/२२**
३. **चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ी मत, बनारस, १९४८ ई०, पृ० १०२**

अद्दहमाण ने **संनेह रासउ** को रतिगृह स्वरूप बताया है और इसे इसी रति भावना से सुवासित किया है। पैग़म्बर की एक हदीस के अनुसार **अल्लाह सौन्दर्यशील (जमील) है और वह अपने सौन्दर्य (जमाल) से इश्क़ करता है।**[1] अद्दहमाण ने इसीलिए उस सौन्दर्यशील ईश्वर को मदन (मयण) के रूप में देखा है और उनका काव्य उसी सौन्दर्यशील ईश्वर के माहात्म्य का दीपक है। दीपक को सूफ़ी साधना मे ज्ञान का प्रतीक माना गया हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि **संनेहरासउ** सौन्दर्यशील ईश्वर के माहात्म्यज्ञान से भरा हुआ है। इसीलिए कवि ने इसे विशुद्ध भाव से सुनने की प्रार्थना की है।

ध्यान देने की बात यह है कि शृङ्गार काव्य के अन्त में फलश्रुति की कामना करने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। यह प्रवृत्ति केवल धार्मिक ग्रन्थों में ही देखी जा सकती है। अद्दहमाण ने ग्रन्थ के अन्त में यह कामना व्यक्त की है कि जिस प्रकार आधे क्षण में उस (विरहिणी) के कार्य की अचिंतित महती सिद्ध हुई उसी प्रकार पढ़ने-सुनने वालों के भी कार्य सिद्ध हों और आख़िरत के दिन उन्हें सफलता प्राप्त हो—

जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महंतु।
तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइतु अंतु।[2]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि **संनेहरासउ** को शृङ्गार काव्य की संज्ञा देना उचित नहीं है। इसे भक्ति काव्य ही समझना चाहिए। विरहिणी आत्मा परमात्मा से विलग होने की स्थिति में विकल है। **संनेहरासउ** उसी विकल आत्मा के सन्देश की कथा है। यह एक मौखिक विनय-पत्रिका है जो प्रियतम के दरबार में भेजी जा रही है। यही कारण है कि इसमें कथावस्तु की महत्वहीनता है। यह एक सन्देश काव्य है। प्रेम विह्वल आत्मा का सन्देश ही इसका मूल विषय है। जायसी, सूर तुलसी रत्नाकर आदि सभी कवियोंने इस प्रकार का सन्देश अपने प्रियतम तक किसी न किसी रूप में भेजा है। यह मेघदूत की परम्परा का काव्य नहीं है। इस काव्य की अपनी एक परम्परा है और यह परम्पर हिन्दी भक्ति काव्य में यहां-वहां देखी जा सकती है।

---

१. अहमद बिन हंबल, ४/१३३/१३४/१५१
२. सन्देशरासक, ३/२२३

संनेहरासउ की नायिका साधक की विरहिणी आत्मा का प्रतीक है। पति के वियोग में वह उसी प्रकार व्यथित है जिस प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिलन की इच्छा से व्यथित रहती है। नायिका को एक पथिक मिल जाता है जो उसके प्रियतम के दयार में जा रहा है। यह पथिक ईश्वर दूत स्वरूप है जो मूलस्थान से गोपनीय लेख का उपदेश ग्रहण करके, प्रभु से आदेशित होकर खम्भात जा रहा है।[1] मूलस्थान **आलमे-हक़ीक़त** अथवा दिव्य जगत् है और गोपनीय लेख से अभिप्राय **लौहे-महफ़ूज़** से है। अर्थात् वह लेख जो ईश्वर के पास सुरक्षित है। खम्भात सीधे रास्ते अथवा **सिराते-मुस्तक़ीम** का प्रतीक है जो जीवात्मा के लिए आश्रय स्वरूप है। यह रास्ता अत्यधिक दुर्गम है। कहने का आशय यह है कि **संनेहरासउ** में अनेक गूढ़ार्थ छिपे हूए हैं। प्रश्न इनके अनावरण का है। जितना ही इस ग्रन्थ के भीतर उतरिए उतना ही इसमें गूढ़ अर्थों का संकेत मिलेगा।

उपासना पद्धति के विवेचनार्थ काव्य में गुह्य भाषा का प्रयोग स्वाभाविक है। फ़ारसी के सूफ़ी कवि तथा बौद्ध-तांत्रिक संधा भाषा का प्रयोग करते थे। जयदेव की काव्य शैली भी अपनी ऐसी ही विशिष्टता बनाये हुए है। **गीत गोविन्द** का लौकिक अर्थ, शृंगार परक होते हुए भी आत्मा परमात्मा के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण का संकेत करता है। कबीर की उलटवासियों में भी सांकेतिक भाषा शैली द्रष्टव्य है। संधा भाषा अपनी इस विशेषता के लिए जानी जाती थी कि उसमें अभिधेयार्थ के साथ ही कोई गूढ़ार्थ भी होता था। **गीत गोविन्द** की परंपरा विद्यापति की रचनाओं में भी परिलक्षित हुई। मुल्ला दाऊद और जायसी का काव्य भी अपने सांकेतिक अर्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। **चन्दायन** अपने समय के सूफ़ी चिन्तकों के बीच अपने गूढ़ार्थों के कारण अत्यधिक लोकप्रिय था और इसे सूफ़ियों की मजलिस में बाक़ायदा मिम्बर (मस्जिद के मंच) से पढ़ा जाता था।[2] इसका वही महत्त्व था जो रूमी, अत्तार और शेख़ सादी की रचनाओं का था।

---

१. **संदेशरासक, २/६५**

२. **मुल्ला अब्दुल क़ादिर बदायूनी मुन्तख़िबुत्तवारीख़ में लिखते हैं—"यह (चन्दायन) इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि इस प्रदेश में इसके परिचय की आवश्यकता नहीं। दिल्ली में मख़दूमे शेख़ तक़ीउद्दीन वाइज़रब्बानी उसके पद्य विभिन्न प्रसंगों में मस्जिद के मंच से पढ़ते थे। जब उनके समकालीनों ने इस मसनवी को इस प्रकार महत्त्व देने का उनसे कारण पूछा, तो**

प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो, हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया के आध्यात्मिक शिष्य थे। वे अपने पीर के देहावसान का समाचार पाकर जब उनके मज़ार पर पहुंचे तो रहस्यवादी सांकेतिक सूफ़ी शैली में उन्होंने यह दोहा पढ़ा—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस।।

इस दोहे में जो गूढ़ार्थ अभीष्ट है वह इसके लौकिक अर्थ से सर्वथा भिन्न है। सूफ़ियों के बीच हिन्दी की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि इसकी सांकेतिक शैली गूढ़ार्थ की दृष्टि से बड़ी सशक्त है। मलिक मुहम्मद जायसी के समय तक रहस्यात्मक अर्थ को समझने में सामान्य जनता को कठिनाई होने लगी थी। यही कारण है कि जायसी ने जब **पदमावत** की रचना की, तो उन्हें उसके रहस्यात्मक अर्थ के लिए उसकी कुंजी देने की भी आवश्यकता पड़ी। १५ वीं शताब्दी तक सूफ़ी कवियों ने रहस्यात्मक अर्थों के संकेतार्थ बौद्ध तांत्रिकों, सिद्धों, नाथों और सन्तों की शब्दावली का प्रयोग किया। तदुपरान्त वैष्णव शब्दावली का प्रचलन सूफ़ियों में आम हो गया। मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने इसके स्पष्टीकरण हेतु **हक़ायक़े हिन्दी** नामक ग्रन्थ की रचना की। मीर जीव, रसखान, शाह सैयद अहमद, शाह सैयद बरकतुल्लाह 'प्रेमी' आदि की हिन्दी रचनाएँ वैष्णव शब्दावली को स्वीकार करते हुये उनके माध्यम से सूफ़ी विचारधारा की अभिव्यक्ति करती हैं।

मौलाना जलालुद्दीन रूमी' ने जिस समय अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ—**मसनवी** की रचना की, मुस्लिम शरीयताचार्यों ने उस पर आक्षेप किया कि इसमें केवल बच्चों की कहानियाँ हैं।[1] मौलाना ने उक्त कथन का खण्डन करते हुए लिखा कि जिस समय **क़ुरआन** अवतरित हुआ था, काफ़िरों ने उसे भी

उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें आध्यात्मिक तथ्यों का उल्लेख है और जिन लोगों ने अलौकिक रहस्यों का रसास्वादन किया है, वे इससे अत्यधिक प्रभावित होते हैं। इसमें दैवी प्रेम उद्दीप्त होता है और इस पुस्तक का क़ुरआन की आयतों के साथ सामंजस्य भी है।"
मुल्ला अब्दुल क़ादिर बदायूनीः मुन्तख़िबुत्तवारीख़, भाग १, कलकत्ता, १८६५-६६ ई०, पृ० २५०।

१. मसनवी मौलाना मानवी (पैराहने यूसुफ़ी), तृतीय भाग, नवल किशोर प्रेस लखनऊ, सन् १९४७ ई०, पृ० २८९

बच्चों की कहानियों का संग्रह बताया था।[1] मौलाना रूम की दृष्टि में **क़ुरआन** के कथनों को यह नहीं समझना चाहिए कि वे निःसत्व हैं, अपितु इनमें अनेकानेक गूढ़ार्थ निहित हैं।[2] सूफ़ियों को प्रियतम के रहस्य का सांकेतिक भाषा में उद्घाटन करने की प्रेरणा **क़ुरआन** से मिली। मौलाना रूम का तो खुला हुआ विश्वास था—

ख़ुश्तर आंबाशद कि सिर्रें दिलबराँ।
गुफ़्ता आयद दर हदीसे दीगराँ॥[3]

अर्थात् अच्छा यह है कि प्रियतम का मर्म दूसरों की कथाओं के माध्यम से कहा जाय। अद्दहमाण ने **संनेहरासउ** में परमात्मा के मर्म को विरहिणी की कथा के माध्यम से सांकेतिक भाषा का आश्रय लेकर उद्घाटित किया है। अद्दहमाण के बाद भी सूफ़ियों के बीच यह पराम्परा बनी रही।

अद्दहमाणकृत **संनेहरासउ** आदि से अन्त तक गूढ़ार्थों से भरा हुआ है। ग्रन्थ का दूसरा प्रक्रम विजयनगर की एक रमणी की चर्चा से प्रारम्भ होता है। कवि ने उस रमणी का कोई नाम नहीं दिया है। साधक के लिए कोई नाम उपयुक्त है भी नहीं। वह अपने पति के विरह में क्षीण हो रही है। खम्भात जाने वाले पथिक से वह अपने प्रियतम के लिए रो–रोकर संदेश देती है किन्तु, कहीं भी अपने प्रियतम का नामोल्लेख नहीं करती। पथिक भी उससे उसके पति का नाम और पता नहीं पूछता। जैसे वह उसके विषय में सब कुछ जानता हो। जल्दी में होने पर भी वह उस विरहिणी की गाथा सुनता है। मानो उसके प्रेम की थाह ले रहा हो। यह पथिक पैग़म्बर का प्रतीक है जो साधक को उसकी साधना से पसीज कर दर्शन देता है और उसकी कार्य सिद्धि में सहायक होता है।

रमणी के रूप सौन्दर्य का उल्लेख करके साधक के चारित्रिक गुणों का उल्लेख किया गया है जो परमात्मा के सौंदर्यशील (जमील) होने की स्वीकृति है। सर्व प्रथम रमणी के स्थिर और स्थूल स्तनों का उल्लेख हुआ है जो दो रहस्यों का संकेत करते हैं। यह रहस्य विवशता (जब्र) तथा अधिकार (क़दर)

---

१. मसनवी मौलाना मानवी, तृतीय भाग, पृ० २८९
२. वही, पृ० २९०
३. वही, प्रथम भाग, पृ० १८

के नाम से जाने जाते हैं और **सूरत** (रूप) तथा **मानी** (अर्थ) से संबंधित हैं। क्षीण कटि से **बर्जखे कुबरा** (मृत्यु तथा क़यामत के मध्य का समय) का संकेत है जो **अहदीयत** और **वाहिदीयत** (कैवल्य और एकत्व) का मध्य बिन्दु है। हंस गति, साधना (सूलूक) मार्ग में **राहे मारिफ़त** पर आगे बढ़ने का प्रतीक है। मुखमण्डल की दीनता में प्रियतम के लिए समर्पण का भाव निहित है। स्वर्णांगों वाले शरीर से आत्मा की शुद्धता अभिप्रेत है जो विरहाग्नि से तपकर श्यामल हो जाने के कारण साधना की कष्टसाध्यता का संकेत करती है। बिथुरी हुई लटें मुख पर छायी हुई हैं' के माध्यम से साधक की उस व्याकुलता की तरफ़ इशारा किया गया है जो परमेश्वर के आवरण में होने के कारण उत्पन्न हुई है। अंगड़ाई के माध्यम से सम्मिलन की इच्छा व्यक्त की गयी है। अंगुलियाँ तोड़ने की चर्चा करके पैग़म्बर की इस हदीस की ओर संकेत किया गया है कि "मैंने उसकी (परमेश्वर की) अंगुलियों की ठंडक का अपने हृदय में अनुभव किया और मैंने आदि तथा अन्तिम विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

मार्ग में पथिक को देखकर विरहिणी की जो स्थिति होती है वह भी विचारणीय है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। साधना में साधक को जब पैग़म्बर का साक्षात्कार होता है तो उसे **हाल** आ जाता है और वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। यहाँ विरहिणी की भी यही स्थिति है। उसकी मंथर गति में चंचलता आ जाती है। यह चंचलता **हाल** की स्थिति की सूचक है। उसकी करधनी टूट कर गिर पड़ती है और किंकिणियों का स्वर दिशाओं में फैल जाता है। यह **अहदीयत** और **वाहिदीयत** के मध्य के भेद के समाप्त होने की स्थिति है और केवल एक सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त है इस तथ्य का उद्घोष करती है। अब वह उस करधनी को सुदृढ़ गाँठ बाँधकर ठीक करती है। यह परमात्मा के एकत्व भाव की दृढ़ता के साथ स्वीकृति है। इस बीच उसकी स्थूल मुक्ताओं वाली हार लता टूट गई। हार को सूफ़ियों ने नैतिकता के गले का आभूषण माना है। कभी-कभी इसे दासता के तौक़ के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। **हाल** की स्थिति में नैतिकता और अनैतिकता का भेद समाप्त हो जाता है। यह-**'न कोई बन्दा रहा और न कोई बन्दा नवाज़'** की स्थिति है। तदुपरान्त वह रमणी पथिक की ओर और आगे बढ़ी ही थी कि पैरों में फँसकर रास्ते में नूपुर छितूरा गया। चरणों की चर्चा करके **सालिक** (साधक) का अल्लाह की मारिफ़त (ज्ञान) के मक़ामात तथा तरीक़त पर दृढ़ रहना बताया गया है और नूपुर से अभिप्राय ज़िक्र से है। मारिफ़त की मंजिल

में ज़िक्र और उपासना की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए नूपुर के छितराने की बात की गयी है। इसके बाद श्वेत और स्वच्छ शिरोवस्त्र के हट जाने का उल्लेख हुआ है। तसव्वुफ़ में शरीर के विभिन्न वस्त्रों की चर्चा करके साधक के चारित्रिक वस्त्रों की ओर संकेत किया जाता है। **रिसालए मक्किया** के अनुसार शिरोवस्त्र से अभिप्राय हक़ीक़त के वस्त्रों से है। सिर से आशय अन्तःकरण से है। शिरोवस्त्र के हटने की स्थिति अन्तःकरण को प्रत्यक्ष कर देती है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधक ने पैग़म्बर के समक्ष अपने अन्तःकरण को खोलकर रख दिया।

रमणी अभी इस मंज़िल से गुज़री ही थी कि उसकी रेशमी चोली फट गयी और स्तन कुछ-कुछ दिखाई पड़ने लगे। उसने जैसे-तैसे उन्हें अपने हाथों से ढक लिया। सूफ़ी साधना में **चोली, अंगिया** अथवा **कंचुकी** का प्रयोग साधक के **अहवाल** (आध्यात्मिक दशाओं) के लिए होता है जो स्वामी तथा दास के मध्य उत्पन्न होते हैं और सामान्य जनों की दृष्टि से छिपे रहते हैं। चोली फट जाना **हाल** के प्रबल वेग से उत्पन्न स्थिति की ओर संकेत करता है और स्तनों के दिखायी पड़ने से **सूरत** और **मानी** (शब्द और अर्थ) के अनावरण की तरफ़ इशारा है। कर या हाथ का प्रयोग परमात्मा के हाथों के लिए होता है। स्तनों को ईश्वर के दो बारीक रहस्य बताया जाता है जिनके अनावरण की जन सामान्य के समक्ष शरीअत में इजाज़त नहीं है। हाथों से स्तनों के छिपाने का उल्लेख करके ईश्वर का अपने रहस्यों को छिपाना बताया गया है। विचारणीय यह है कि वाणी का प्रयोग करने से पूर्व ही विरहिणी ने पथिक को अपनी दशा से अवगत करा दिया है। जभी तो वह उसकी प्रशंसा के योग्य बन सकी है। इस प्रकार मैं यह कह सकता हूँ कि **संनेहरासउ** के स्वस्थ मूल्यांकन हेतु उसके गूढ़ार्थों को समझना आवश्यक है।

संनेहरासउ का विरह-वर्णन और ऋतु-वर्णन

संनेहरासउ का विरह-वर्णन भाषा काव्य की अमूल्य निधि है। संस्कृत काव्य में स्त्री और पुरुष दोनों की विरहावस्था के चित्र मिलते हैं जबकि, हिन्दी कवियों ने स्त्रियों के ही विरह का सविस्तार वर्णन करने में विशेष रुचि ली है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में भले ही इसका कारण यह हो कि स्त्रियों की शृंगार चेष्टा का वर्णन करने में पुरुषों को जो

आनन्द आता है वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं,[1] किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। इस प्रसंग में हिन्दी सूफ़ी कवियों से संबंधित डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन विचारणीय है। 'विरह का वर्णन करने में ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा, कथा के लिए नहीं करते, इनका लक्ष्य सदा भगवत्प्राप्ति रहता है। इसलिए भगवान के विरह में जीवात्मा की तड़पन का ये बड़ी सजीवता के साथ वर्णन करते हैं।[2] ध्यान देने की बात यह है कि संस्कृत काव्य में (कुछ एक अपवादों को छोड़कर) विरह की जो कथाएँ मिलती हैं वह पूर्ण रूप से लौकिक कथाएँ हैं। उन पर आध्यात्मिक अर्थों का आरोप नहीं किया जा सकता। किन्तु हिन्दी में चाहे वह स्त्री के विरह का वर्णन हो अथवा पुरुष के विरह का, अपने मूल में यह आध्यात्मिक ही है, लौकिक नहीं।

संनेहरासउ में विजयनगर की एक रमणी की हृदय विदारक विरह कथा का वर्णन स्वयं उसी की भाषा में हुआ है। यह जीवात्मा की भाषा है। इसी जीवात्मा को बाँसुरी मानकर मौलाना जलालुद्दीन रूमी ने परमात्मा के वियोग में व्यथित आत्मा की कथा **मसनवी** में लिखी है। बाँसुरी कथा का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है—

बश्नो अज़ नै चूँ हिकायत मी कुनद।
वज़ जुदाईहा शिकायत मी कुनद॥
कज़ नयस्ताँ ता मरा बबुरीदः अन्द।
अज़नफ़ीरम मर्दोज़न नालीदा अन्द॥
सीना ख़ाहम शर्ह शर्ह अज़ फ़िराक़।
ता बगोयम शर्हे दर्दे इश्तियाक़॥
हर कसे कू दूर माँद अज़ अस्ले ख़ेश।
बाज़ जोयद रोज़गारे वस्ले ख़ेश॥[3]

अर्थात्—बाँसुरी जो (विरह) कथा सुनाती है उसे उससे सुनो, वह वियोग की शिकायत करती है। (और कहती है) जबसे मुझे वन से काटा

१, रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, भूमिका
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, बंबई सन् १९५४ ई०, पृ० ५८
३. मौलाना रूम : मसनवीए-मोलवीए-मानवी, प्रारम्भिक पंक्तियाँ

गया है, मेरे माध्यम से (अथवा मेरी चीत्कार सुनकर) नर-नारियों ने आह्रो-नाला किया है। मैं चाहती हूँ कि (मेरे ही समान) मेरा हृदय विरह से टुकड़े-टुकड़े हो जाय, जिससे कि मैं (मिलन की) जिज्ञासा के दर्द की व्याख्या कर सकूँ। जो कोई भी अपने मूल (प्रियतम) से वियुक्त होता है वह उससे मिलने के व्यवसाय की खोज में रहता है।

सूफ़ी विचारधारा में परमतत्त्व को प्रेम के आलंबन रूप में स्वीकार किया गया है और जीवात्मा अथवा प्रकृति को आश्रय रूप में। यह जीवात्मा अपने मूल तत्व परमात्मा से वियुक्त होने की स्थिति में दुखित, व्यथित एवं पीड़ित रहती है। **संनेहरासउ** इसी दुःख, व्यथा और पीड़ा की कहानी है। बाँसुरी एक जड़ पदार्थ है। किन्तु मौलाना रूम ने उसे जीवात्मा के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। अद्दहमाण ने विजयनगर की रमणी को जीवात्मा का प्रतीक माना है जो चेतन है। किन्तु अपने मूल से वियुक्त होने पर जड़ और चेतन का अन्तर समाप्त हो जाता है। ब्रह्म से अलग होने की स्थिति में जीव भी जड़ स्वरूप है। हाँ परमात्मा से मिलन की जिज्ञासा एक ऐसी औषधि है जो उसमें चेतन तत्त्व बनाये रखती है।

मौलाना रूम की बाँसुरी प्रेम-पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए विरह से हृदय का टुकड़े-टुकड़े हो जाना आवश्यक समझती है। अद्दमहमाण की नायिका भी सच्चे प्रेम को आंकने का मापदण्ड यही समझती है कि जिस प्रकार जल से वियोग होने पर कीचड़ का हृदय पाश-पाश हो जाता है, प्रियतम से वियोग की स्थिति में प्रेमी का हृदय भी उसी प्रकार फट जाना चाहिए, जभी उसके प्रेम को सच्चा माना जा सकता है—

पाणी तणइ विओइ कादमि हो फाटइ हियउ।
जइ इम माणसु होइ नेहु त साचउ जाणियइ॥[1]

अद्दहमाणकृत **संनेहरासउ** को इस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है कि इसके विरह वर्णन के अनेक स्थलों ने परवर्ती हिन्दी काव्य-साहित्य को प्रभावित किया है। **संनेहरासउ** की नायिका की दृष्टि में उसके मन को चाहिए था कि विरहाग्नि में जलाकर उसे खाक कर देता और कंत के प्रभाव में उसके जीवन को समाप्त कर देता किन्तु उसके

---

१. **अद्दहमाण : संनेहरासउ, पृ० १६२, क्षेपक**

निष्ठुर मन ने ऐसा नहीं किया। हिन्दी काव्य में इस प्रकार की कल्पनाएँ भरी पड़ी हैं। किन्तु यह मिलन की आशा की औषध है जो विरह के प्रहार से संचूर्णित अंगों को अलग नहीं होने देती—

तुह विरहपहरसंचूरिआइँ विहडंति जं न अंगाइँ।
तं अज्ज-कल्ल-संघडण-ओसहे णाहतगांति।[१]

रसलीन ने इसी भाव को **आसरे अवधि के हौं जीवित रही हुती'**[२] के माध्यम से व्यक्त किया है। अद्दहमाण की नायिका विरह की स्थिति में इतना घुल गई है कि दुर्बलता के कारण एक ही वलय में उसके दोनों हाथ समा जाते हैं।[३] मधनायक ने भी यही बात कुछ थोड़ा सा हटकर की है—

नाटिका निहार कर कंकन भुजा लो आयो
पावत न बाढ़ै बिथा बिरह प्रयोग तें।[४]

अद्दहमाण की नायिका की दुर्बलता इस सीमा तक पहुँच गई है कि कनिष्ठिका उँगुली की मुँदरी उसकी बाहों में समा जाती है—**जो कालंगुलि मूँदडउ सो बाँहडी समाइ।**[५] मीर जलील ने इसका पूरा-पूरा अनुवाद सा कर दिया है—

कासों कहौं संदेसवा पीतम नाँह।
अंगुरी केरी मुँदरिया आवत बाँह॥[६]

संनेहरासउ की विरहिणी के नेत्रों से होने वाली जलवृष्टि से उसकी विरहाग्नि खाण्डव वन में लगी हुई अग्नि के समान और तेज हो जाती है—

अणियत्त खलं जलवरिहणेण लज्जंति नयण नहु धिट्ठा।
खण्डववणजलणं विय विरहग्गी तवइ अहिययरं॥[७]

रसलीन की नायिका के लिए भी नयन नीर हृदय की विरहाग्नि को भड़काने में सहायक हैं—

---

१. अद्दहमाणकृत संनेहरासउ २/७२
२. डा० शैलेश जैदी बिलग्राम के मुसलमान हिन्दी कवि, पृ० १३६
३. इक्कति बलियडइ बेवि समाणा हत्थ। संनेहरासउ, २/८०
४. डा० शैलेश जैदी : बिलग्राम के मुसलमान हिन्दी कवि, पृ० १३०
५. संनेहरासउ, २/८१
६. बिलग्राम के मुसलमान हिन्दी कवि, पृ० १३२
७. संनेहरासउ, २/८४

निसि दिन बरसत रहत हैं तहँ कहुँ घटत न सूल।
नैन नीर हिय अगनि को भयो घीव के तूल ॥[1]

जायसी के विरह वर्णन को भले ही हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्वीकार किया जाय किन्तु **संनेहरासउ** के विरह वर्णन में जो सहजता और प्रगाढ़ संवेदना है वह परवर्ती हिन्दी काव्य में दुर्लभ है। विरहिणी के जलकर मर जाने की स्थिति में जो धुँआ उठा उसने जायसीकृत पद्मावत के भौंरे और काग को काला कर दिया। अपने जीवन काल में ही जायसी की विरहिणी यह झूठा संदेश अपने प्रियतम तक भेजना चाहती है। द्रष्टव्य यह है कि विरहाग्नि के धुएँ की चर्चा **संनेहरासउ** में भी हुई है किन्तु उससे काग या भ्रमर काले नहीं हुए हैं अपितु उस धुएँ से विरहिणी के लोचन स्रवित हो रहे हैं जिसके फलस्वरूप उसकी आँखों से अश्रु प्रवाहित हो रहे हैं—

मइ न रुन्नु विरहग्गिधूम लोयण सवणु ।[2]

स्पष्ट है कि जायसी के यहाँ कृत्रिमता है सहजता नहीं। जबकि अद्दहमाण के वर्णन में सहजता और स्वाभाविकता है। जायसी की विरहिणी को अगहन में दिवस के घटने और रात के बढ़ने की चिन्ता है। वह सोचती है कि इतनी लम्बी रात उससे किस प्रकार काटी जायेगी। वह दिन की भाँति क्षीण हो रही है और विरह रात का तरह बढ़ता जा रहा है।[3] किन्तु **संनेहरासउ** की विरहिणी की दृष्टि में उत्तरायण में दिन बढ़ता है और दक्षिणायन में रात बढ़ती है यह पूर्व नियोजित है, जिसमें दोनों बढ़ते हैं वह तीसरा विरहायण भी होता है—

उत्तरायणु वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिओइउ ।
दुच्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ ।[4]

इस स्वानुभूत तथ्य के प्रकाश में **संनेहरासउ** की विरहिणी यामिनी को संबोधित करके कहती है कि तुम्हारी जो वचनीयता है वह तीनों भुवनों

---

१. रसलीन, रस प्रबोध, ४२३
२. संनेहरासउ, २/१०६
३. पदमावत [सं० वासुदेव शरण अग्रवाल], ३४६/१-२
४. संनेहरासउ , २/११२

में नहीं समा सकती। तुम दुख में चौगुनी बढ़ती हो और सुख संग में क्षीण होती हो—

जामिणि जं वयणिज्ज तुअ तं तिहुयणि णहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी झिज्झइ सुहसंगाइ ॥[1]

विरह वर्णन के प्रसंग में **संनेहरासउ** के कवि ने षड्ऋतुओं के वर्णन का अवसर सहज रूप से निकाल लिया है। द्रष्टव्य यह है कि विरहिणी के चेतन मस्तिष्क में षड्-ऋतु वर्णन के शीर्षकान्तर्गत जान-बूझ कर एक के बाद एक ऋतु का वर्णन करने की बात नहीं सूझी है। ऋतुओं की चर्चा तो प्रसंगवश छिड़ गयी है। पथिक के यह पूछने पर कि तुम कितने दिनों से विरहाग्नि में जल रही हो ? विरहिणी के मानस पटल पर फ़्लैश बैक के रूप में सारे चित्र एकदम से उभर आते हैं। ग्रीष्म में उसके पति ने गमन किया था इसलिए वह उस मनहूस ऋतु को स्मरण करते हुए उसे ग्रीष्माग्नि से जल जाने का शाप देना नहीं भूलती। इस शाप में ग्रामीण स्त्रियों के स्वभाव की झलक मात्र नहीं है। यह मानव प्रकृति के स्वभावानुकूल है। जिसके कारण अपना अहित होता है उसे कौन बुरा-भला नहीं कहता ?

संनेहरासउ के ऋतु-वर्णन को कालिदासकृत 'ऋतुसंहार' की परम्परा में रखकर देखा गया है और ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति वर्णन के जो चित्र मिलते हैं उनका तुलना **पृथ्वीराज रासो, ढोला मारु रा दोहा** और **पदमावत** से करने का सुझाव दिया गया है।[2] देखना यह है कि उपर्युक्त सभी काव्य-ग्रन्थों में ऋतुओं के वर्णन संयोग कालीन हैं वियोग कालीन नहीं। सूफ़ी काव्य में बारह मासा की जो परम्परा मिलती है उसी का संकेत अद्दहमाण कृत **संनेहरासउ** में ऋतु-वर्णन के रूप में हुआ है। **पदमावत** का षड्ऋतु वर्णन अपने प्रस्तुतिकरण तथा प्रभावोत्पादकता, दोनों ही दृष्टियों से **संनेहरासउ** से भिन्न है। **मृगावती, पदमावत मधुमालती, चित्रावली, ज्ञानदीप, हंसजवाहर, इन्द्रावती, यूसुफ़ ज़ुलेखा** आदि सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में विरह जन्य दशा का चित्रण करने के लिए बारहमासा वर्णन की परम्परा का आश्रय लिया गया है। **पदमावत, चित्रावली** और **यूसूफ़ ज़ुलेखा** में जो षड्-ऋतु वर्णन मिलता है उसे **संनेहरासउ** की परम्परा में रखा जा सकता है।

---

१. **संनेहरासउ, ३/१५६**
२. **वही, भूमिका, पृ० १२५**

बारहमासा वर्णन की परम्परा सम्भव है हिन्दी में सूफ़ियों की रचनाओं के माध्यम से आयी हो जैसा कि डा० श्री कृष्ण लाल आदि विद्वानों का विचार है। अपभ्रंश साहित्य में ऋतुओं के साथ-साथ पास-पास के बदलते हुए परिवर्तन को भी देखा गया है। बारहमासे का प्रथम उल्लेख विनयचन्द्र सूरिकृत **नेमिनाथ चतुष्पादिका** में मिलता है। यह निश्चित बात है कि अद्दहमाण से पूर्व अपभ्रंश साहित्य में षड्ऋतुओं के अथवा बारह मासा के माध्यम से विरहजन्य स्थिति का चित्रण करने की परंपरा थी।

संनेहरासउ की विरहिणी प्रत्येक ऋतु में अकेली ही दिखायी पड़ती है। सखियाँ सहेलियाँ भी तो नहीं हैं जो उसे सान्त्वना दें। जब कि अन्य विरह काव्यों में यह स्थिति सामान्यतः नहीं मिलती। पर एक बात अवश्य है। उसमें सामान्य विरहिणियों की भाँति कोरी भावुकता नहीं है। उसके विचारों में गम्भीरता और संतुलन है। ग्रीष्म में चन्दन के लेप में यदि उसे तपन का अहसास होता है तो वह अकारण हीं नहीं। सर्पों द्वारा सेवित होने के कारण चन्दन यदि तपन प्रदान करता है तो इसमें आश्चर्य कैसा! अरविंद भी तपते हैं तो इसलिए कि रविकरों ने ही तो उन्हें विकसित किया है। चन्द्रमा दाह उत्पन्न क्यों न करे? आखिर विष के साथ ही तो उसने जन्म लिया है। हार का कष्ट पहुँचाना सहज है। कुसुम के बाणों द्वारा क्षत लोगों के घाव में क्षारोदभूत जो ठहरा।[1] अकेले में विरहकालीन ग्रीष्म की तपन पीड़ा की असह्यता को कम करने के लिए इस भाव का वस्तु तथा दोधक पढ़कर मन को समझाने के अतिरिक्त **संनेहरासउ** की विरहिणी के पास और उपाय भी क्या था?

वर्षा वर्णन के अन्तर्गत जो १४० से १४४ छन्दों तक प्राकृतिक चित्र प्रस्तुत किया गया है उसे प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण नहीं कहेंगे तो और क्या संज्ञा देंगे? मैं समझता हूं कि इन छन्दों में वर्षा का बड़ा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। **संनेहरासउ** की विरहिणा एक कवयित्री भी है। इस लिए जब उसे अपने मन की व्यथा व्यक्त करनी होती है तो वह वस्तु, गाथा और दोहा की रचना करती है। यहाँ प्रकृति का स्वतंत्र चित्र नहीं मिलता। किन्तु यह चित्र ऐसा अवश्य है कि इससे जायसी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं। तुलना के लिए द्रष्टव्य है—

---

१. **संनेहरासउ** : ३/१३७

उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु कि सणाडंबरु[१]
अद्दहमाण

'चढ़ा असाढ़ **गँगन घन गाजा।**
धूम **स्याम** धौरे **घन धाए।**[२]
जायसी

जायसी ने घोर गर्जन करते हुए सघन कृष्ण मेघों के साथ धुमैले और धौले बादलों को भी सम्मिलित कर लिया है और सैनिकों की भाँति गगन में उन्हें दौड़ते हुए देखा है। अद्दहमाण ने भी इन बादलों को रण क्षेत्र में उतरने वाले दुद्धँर भटों के रूप में प्रस्तुत किया है–

निवड निरन्तर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु।[३]

अद्दहमाण और जायसी दोनों ही की विरहिणयों को दादुर और कोयल के स्वर सह्य नहीं हैं–

दद्दुर रडणु रउद्दु कुवि सहविण सक्कइ

× × ×

किम सरउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरु[४]
अद्दहमाण

दादुर मोर **कोकिला** पाऊ। **करहिं बेझ घट रहै न जीऊ।।**[५]
जायसी

जहाँ अद्दहमाण ने तड़तड़ करके चंचल विद्युत के तड़कने की चर्चा की है—**णहमग्गि णहवल्लि तरल तडयडिव तडक्कइ,**[६] वहीं जायसी ने विद्युत के इस तड़कने में तलवार के तड़कने की झलक देखी है–**खरग बीज चमकै चहुँ ओरा।**[७] **संनेहरासउ** में तलवार के चलने का संकेत नहीं है किन्तु तलवार चलने

---

१. **संनेहरासउ : ३/१४८**
२. **पदमावत : ३४४/१-२**
३. **संनेहरासउ : ३/१४८**
४. **वही**
५. **पदमावत : ३४४/६**
६. **संनेहरासउ : ३/१४८**
७. **पदमावत : ३४४/३**

से जो ध्वनि होती है उसे कवि ने सुरक्षित रखा है। पदमावत में तलवार की चमक तो है पर उसके चलने पर जो ध्वनि होती है उसका संकेत नहीं है।

अद्दहमाण की विरहिणी को यह शिकायत है कि वर्षा के आने पर धारा समूह द्वारा (प्रत्येक दिशा में जल भर जाने के कारण) ग्रीष्म की अग्नि बुझा दी गयी है किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उसके हृदय की विरहाग्नि और भी तपती है—

ऊल्हवियं गिम्हहवी धारणिवहेण पाउसे पत्ते।
अच्चरियं मय हियए विरहग्गी तवइ अहिअयरं।[1]

जायसी की विरहिणी के मनोभावों का उक्त भावों के साथ साम्य द्रष्टव्य है—

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी।[2]

वर्षा-ऋतु के समाप्त होते ही शरद का आगमन हुआ। अगस्त्य ऋषि (तारा) को देखकर अद्दहमाण की विरहिणी को पावस बीत जाने का अहसास हुआ। हस्त नक्षत्र में अगस्त्य तारा दिखाई पड़ता है। **चन्दायन** (३४५) और **पदमावत** (३४७/१) में कुआर वर्णन के प्रसंग में अगस्त्य के उदय होने का उल्लेख हुआ है। **संनेहरासउ** की विरहिणी को चिन्ता है कि प्रिय इस अवसर पर भी परदेश में ही रमा रहा, आया नहीं—**पिउ परएसि रहिउ णहु रमिअउ** (३/१५९)। **पदमावत** में नागमति भी इसी प्रकार सोचती है— **कंत न फिरे बिदेसहि भूले** (३४७/७)।

शरद वर्णन के अन्तर्गत अद्दहमाण के प्रकृति वर्णन और विरहजन्य स्थिति के चित्रण की परिपाटी ही **चन्दायन** ओर **पदमावत** के कुआर, कार्तिक आदि के वर्णनों में मिलती है। रात्रि में मनोहर तारों का दिखायी देना, चन्द्रमा की ज्योत्सना का स्फुरित होने लगना, सरोवरों में हंसों का क्रीड़ा करना, मरालों का आगमन, सारसों के सरस शब्द, स्त्रियों के दिव्य मनोहर गीत और रास क्रीड़ाएँ, दीपावली के त्योहार का मनाना आदि अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो **चन्दायन** और **पदमावत** में लगभग ज्यों के त्यों वर्णित हुए हैं। इन परिस्थितियों में विरहिणी की मन:स्थिति भी लगभग एक ही जैसी है।

---

१. **संनेहरासउ : ३/१४९**
२. **पदमावत : ३४५/१**

हेमंत में आकर विरहिणी अत्यधिक पीड़ित दिखायी पड़ती है। विरह की तीव्रता और प्रेम की प्रगाढ़ता उसे अपने पति को निरक्षर, मूर्ख, तस्कर, निर्दय, धृष्ट, खल, पापी, कापालिक, शबर, आदि सब कुछ कहने पर मजबूर करती है। उसकी तड़प में जो संवेदना है उसका अनुमान उसके इन शब्दों से ही किया जा सकता है—

हेमंति कंत ! बिलंवतियह, जइ पलुट्टि नासासिहसि,
तं तइय मुक्ख ! खल ! पाइ मइ मुइय विज्ज कि आविहसि ।[१]

शिशिर में विरहिणी की स्थिति और भी दयनीय हो गई है। अन्य सौभाग्यवती स्त्रियाँ कुन्द चतुर्थी का उत्सव मनाती हैं और प्रिय के साथ केलि करने शय्यासन पर जाती हैं। इस अवसर पर प्रेम मुग्धा विरहिणी अपने मन को दूत बनाकर प्रिय के पास भेजती है। किन्तु उसका मन रूपी दूत भी वापस नहीं लौटता। साहचर्य लाभ की इच्छा में मूल भी विनष्ट हो गया और उस विरहिणी ने शून्य हृदया होकर रात बिताई।

शिशिर के उपरान्त वसन्त का आगमन हुआ। दसो दिशाओं में रमणीयता का विकास हुआ। विरहिणी की मदनाग्नि को विस्फुरित करता हुआ मलयगिरि समीर चलने लगा। कुसुम पत्रों ने नये वेश धारण किये। सरोवरों की शोभा बढ़ गई। सौभाग्यवती स्त्रियों ने अपने शरीर को पुष्पवरों और वस्त्रों से सजाया और सखियों के साथ गीत गाती पाई गईं। उन सखियों के बीच विरहिणी ने एक लंकोडक पढ़ा। उसने बताया कि नाथ के बिना वसन्त का बिताना उसके लिए दुष्कर है। कन्दर्प दर्प पूर्वक अंगों को संतप्त करता है, साहार, अंगों को सहारा नहीं देता, गगन में प्रसरित नवद्रुम माला मेघमाला की भाँति दुख प्रदान करती है, शरीर को अनंगने वाणों से जर्जरित कर दिया है, प्रेम पूर्वक नृत्य करते हुए कीर के कारुण्य युक्त शब्द सुनकर विरहिणी अत्यन्त कष्ट पूर्वक किसी प्रकार प्राण धारण किये हुए है, कोयलों का कलरव असह्य है। पथिक से इतना सब कुछ कहकर वह विरहिणी निवेदन करती है कि उसने अपने प्रियतम के लिए जिन कठोर शब्दों का प्रयोग किया है उन्हें त्याग कर वह जितना उचित समझे उतना ही सन्देश प्रियतम तक पहुँचा दे। वह अपने प्रियतम को किसी प्रकार भी कोप में नहीं देखना चाहती। उसने

---

१. संनेहरासउ : ३/१९१ .

दुख से उद्विग्न होने के कारण अनायास ही कुछ कठोर शब्दों का प्रयोग कर लिया अन्यथा उसका अभीष्ट यह नहीं था। पथिक से किये गये इस अन्तिम निवेदन में प्रेम की पराकाष्ठा देखते ही बनती है। इस प्रकार यह कहना असंगत न होगा कि **संनेहरासउ** का विरह-वर्णन हिन्दी काव्य में एक अपूर्व महत्त्व की वस्तु है।

संनेहरासउ का सांस्कृतिक मूल्यांकन

अद्दहमाण युगीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से **संनेहरासउ** एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ग्रन्थकार मुसलमान है इसलिए उसने प्रथम प्रक्रम के प्रारंभिक छन्दों में **क़ुरआन** के स्वर में ईश स्तुति करते हुए अपनी आस्था का परिचय दिया है। चौथे छन्द में उसने **अपभ्रंश, संस्कृत, प्राकृत,** और **पैशाची** भाषाओं का उल्लेख किया है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि १३वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में यही भाषाएँ जीवित भाषाओं के रूप में स्वीकृत थीं। इसी स्थल पर कवि ने सुकाव्य के लिए **लक्षण, छन्द** और **अलंकार** से युक्त होना आवश्यक बताया है। १० वें छन्द में यह संकेत मिलता है कि **वीणा** उच्च वर्गीय महिलाओं का प्रिय वाद्य था जबकि साधारण स्त्रियाँ **ढोल** बजाकर उससे आनन्दित होती थीं। १२ वें और १३ वें छन्दों में क्रमश; **नन्दन कानन** में फूलने वाले **पारिजात वृक्ष** और तीन लोकों में अपने प्रभाव को प्रकटित करने वाली **गंगा** का उल्लेख किया गया है। १४ वें छन्द में **बाड़ी** में तूँबी (लौकी) के लगाने के रिवाज का संकेत मिलता है। १५ वें छन्द में यह गन्ध निहित है कि नगरों में **भरत मुनि** द्वारा निर्दिष्ट भावों और छन्दों के अनुसार **शास्त्रीय नृत्य** लोक प्रिय था जबकि **देहाती स्त्रियाँ ताली बजाकर नाचती थीं।** १६ वें छन्द में यह ध्वनि आती है कि संपन्न और समृद्ध लोगों के यहाँ **प्रचुर दुग्ध मिश्रित चावल की खीर** बनती थी जबकि साधारण लोगों में **कनभूसी सहित** पकने वाली **रब्बड़ी** का सेवन होता था। १८ वें छन्द में यह सूचना दी गई है कि दारिद्र्य ग्रस्त विदग्धजन **पात्र** के अभाव में **शतपत्रिका** में ही भोजन करके आश्वस्त हो लेते थे। सांस्कृतिक दृष्टि से यह सूचना बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि संपन्न लोगों में बरतनों में भोजन करने की आम प्रथा थी।

संनेहरासउ के द्वितीय और तृतीय प्रक्रम सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण हैं। अद्दहमाण ने सर्व प्रथम विजयनगर का उल्लेख किया है (२/२४)। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार 'विजयनगर आधुनिक जैसलमेर राज्य के अन्तर्गत पड़ता है।'[1] इसका दूसरा नाम विक्रमपुर भी बताया गया है। **संनेहरासउ** के अध्ययन से पता चलता है कि विजयनगर १३ वीं शताब्दी ई० के पूर्वाद्ध में नदियों से घिरा हुआ एक सम्पन्न नगर था। ग्रन्थ के १४२ वें छन्द में विजयनगर की विरहिणी ने निबिड़ लहरों के घनान्तर संयोग से दुस्तर बनी हुई नदियों का उल्लेख किया है। आगे चलकर १७३ वें छन्द में यह संकेत मिलता है कि विजयनगर धवल गृहों और सुन्दर तथा भव्य परकोटों से युक्त था और चाँदनी में इसकी सुन्दरता द्रष्टव्य होती थी—

ससिजुन्ह निसासु सुसोहिययं धवलं,
वरतुंग पयार मणोहरयं अमलं।

हेमंत में यहाँ के धवलगृह तुषार भार से बिल्कुल श्वेत हो जाते थे— **अवलोइय धवलहर सेय तुर-सार भरि** (३/१८४)। नगर में गोशालाएँ **(गोअसर्णिहि)** और तुरंगशालाएँ **(तुरंग चलत्थिहि)** भी थीं जिनमें स्त्रियाँ बड़ी भक्ति के साथ धूप देती थीं (३/१६९)। नगर के मकानों की बनावट ऐसी है कि उनमें केलिगृह **(केलीहरहिं)** अग्नि गृह **(अग्गीहरहि)** और मध्य उपवरक **(अब्भिंतर भुयण)** तथा उद्यान **(उज्जाणह)** आदि हैं (१९४)। यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि शिशिर में केलिरसका उपभोग केलिगृह में न होकर मकान के मध्य उपवरक में होता था (३/१९४)। हेमंत के प्रसंग में यह सूचना दी गई है कि रात्रि में भवन में ऊपरी भाग में सोना छोड़कर कामिनियों ने उपवरक में पलंग बिछाये (३/१८८)। इससे यह संकेत मिलता है कि केलिगृह मकान के ऊपरी भाग में ही होता था।

विजयनगर के नागरिकों का जीवन बड़ा ही सुखद, स्वतंत्र और स्वच्छन्द है। नगर में पोखरियाँ, तालाब, नदियाँ और सरोवर सभी कुछ हैं। विवाहिता स्त्रियाँ विविध आभरणों और चित्र-विचित्र वस्त्रों से शरीर का शृंगार करके गलियों में रास खेलता हैं (३/१६७)। वे सुन्दर वाद्य बजाती

---

१. **अब्दुल रहमानकृत संदेश रासक, भूमिका, पृ० ८०**

हुई कुण्डलाकार नाचती हैं (३/१७५) और अपने-अपने कंत के साथ सरोवर तटों पर भ्रमण करती हैं (३/१७५)। घर-घर में रमणीय गीत गाये जाते हैं (३/१८०) और सुललित राग के साथ प्राकृत पढ़ने की प्रथा है (३/१८३)।

विजयनगर के जिन वृक्षों का **संनेहरासउ** में उल्लेख मिलता है उनमें मुख्य स्थान आम के पेड़ का है—**कलयजु किउ कलयंठिहि चडि चूयह सिहरि** (३/१४४), **सिहि चडिउ पिक्खि मायंदसाह** (३/२१२), **गय णिवड णिरंतर गयणिचूय** (३/२१५), **णिस्साहार पहिय साहरवणि** (३/१३४) तथा **साहार णाहुण सहार अंगि** (३/२११)। आम्र वृक्षों के अतिरिक्त किंशुक **(किंसुयइ)** अथवा पलाश **(पलासइ)**, अशोक **(असोउ)**, और सहजन **(संजणिउ)** (३/२०९) का उल्लेख मिलता है। इस क्षेत्र के अन्य वृक्षों का भी संकेत हुआ है जिनमें कदली **(जालंधरिव** ३/१२३), घनसार **(घणसारिण** ३/१३८) चन्दन **(चंदणिण** ३/१३८), कदंब **(कयंबिण** ३/१४६), और ईख **(इक्ख** ३/१९५) उल्लेख्य हैं। वे उपयोगी वस्तुएँ जो वृक्षों की लकड़ियों और पुष्पों से बनती हैं और जिनमें अधिकांश शृंगारोपयोगी हैं **संनेहरासउ** की विरहिणी के वर्णन में उनका भी उल्लेख मिलता है। इनमें जातीफल **(जाईहलइ** ३/१८८), सुपारी **(फोफलह** ३/१८८), केवड़ा **(केवइ** ३/१८८), अगरु **(अगरु** ३/१८९) कुंकुम **(गुसिणु** ३/१८९) कर्पूर **(कप्पूर** ३/१८८) उल्लेख्य हैं।

विजयनगर में कुन्दचतुर्थी **(कुंदचउत्थि** ३/१९५), ऋतुनाथ जन्म दिवस **(रिउणाहह उपत्तिहि दिणिहि** ३/१९६) तथा दीपावली का पर्व **(दीवालिय** ३/१७६) बड़े मनोयोग पूर्वक मनाया जाता है। दीपावली के अवसर पर घर-घर पटह बजाया जाता है (३/१७४) और चौक पुरे जाते हैं (३/१७५)। रात्रि में स्त्रियाँ दीपदान देती हैं। वे नव राशि रेखा के समान हाथों में दीप लेकर चलती हैं और उन्हें कुछ इस प्रकार सजाती हैं कि सुन्दर दीपकों से संपूर्ण गृह मण्डित हो जाता है (३/१७६)[1]। होली का पर्व संभवतः यहाँ नहीं मनाया जाता। होली के खेले जाने का अद्दहमाण ने कोई उल्लेख नहीं किया

---

१. दीपावली के जिस पर्व की चर्चा संनेहरासउ में हुई है वह अष्टछाप के कवियों द्वारा वर्णित दीपमालिका के पर्व से भिन्न नहीं प्रतीत होता। तुलनार्थ देखिए— डा० मायारानी टण्डन: अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन (संक्षिप्त संस्करण) १९६० ई० लखनऊ, पृ० १३९

है। चर्चरी गीत ध्वनि के साथ वसन्तोत्सव अवश्य मनाया जाता है जिसमें बसंत ताल नाचा जाता है (३/२१६)।

विजयनगर की स्त्रियों के वस्त्र-विन्यास, तथा श्रृंगार प्रसाधन की चर्चा भी **संनेहरासउ** में हुई है। सर्व प्रथम विरहिणी के वस्त्रों पर दृष्टि जाती है। इस प्रसंग में केवल श्वेत और **स्वच्छ शिरोवस्त्र** तथा **रेशमी चोली** का ही उल्लेख हो पाया है (२/२८)। आगे चलकर यह भी बताया गया है कि पथिक के कहने पर विरह के भार से टूटी हुई उस लज्जावती ने **आँचल** से अपना मुँह पोंछ डाला (२/६८)। इस आँचल की स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकी है। यह शिरोवस्त्र का ही एक भाग है अथवा किसी अन्य वस्त्र का? कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि चोली के ऊपर कोई अन्य वस्त्र नहीं पहना जाता था अन्यथा चोली के फट जाने पर हाथों से स्तनों को ढकने की आवश्यकता न पड़ती। १६७ वें छन्द में स्त्रियों द्वारा चित्र-विचित्र वस्त्रों से शरीर का श्रृंगार करने का उल्लेख मिलता है। पर यह नहीं बताया गया है कि ये चित्र-विचित्र वस्त्र क्या-क्या हैं। इसी प्रकार १७६ वें छन्द में शरद में स्त्रियों द्वारा विविध भंगिमाओं से पहने हुए काले कपड़ों का प्रसंग मिलता है जिनपर कुटिल लहरियाँ कढ़ी हुई हैं। किन्तु यहाँ भी वस्त्रों का स्वरूप उभर कर सामने नहीं आता। हाँ इससे इतना जरूर पता चलता है कि कपड़ों पर कढ़ाई की प्रथा काफ़ी प्रचलित थी। एक अन्य स्थल पर वस्त्र को रंग छोड़ देने पर दुबारा रंग लेने का उल्लेख मिलता है (२/१०१) जिससे यह ध्वनि निकलती है कि कपड़ों को रंगकर भी पहना जाता था।

श्रृंगार के प्रसाधनों में अद्दहमाण ने विशेष रुचि ली है। विजयनगर की स्त्रियाँ केशों को जूड़ा बाँधकर कुसुमों से सजाती थीं किन्तु विरहिणी स्त्रियाँ केश खुले रखती थीं (२/१०६)। संभवतः ऐसा इसलिए था कि केश खुले रखना मध्य युग में दुख और शोक का सूचक समझा जाता था। आँखों में काजल लगाया जाता था (२/१०६)। काजल लगाने को आँखों में सलाई देना भी कहते थे—**दिंति सलाइय अक्खिहि** (३/१७६)। भाल तल को चटकीले तिलक से तिलकित किया जाता था—**तिलु भालयलि तुरक्कि तिलक्किव** (३/१६८)। ग्रीष्म में शरीर पर हरिचन्दन का लेप किया जाता था और गले में कुसुम माला धारण की जाती थी (३/१३)। घनसार और चन्दन से भी शरीर को चर्चित करते थे (३/१३८)। वर्षा ऋतु में इस प्रकार के किसी भी

प्रसाधन का उल्लेख नहीं मिलता । शरद में कुंकुम और चन्दन से शरीर को चर्चित करने की बात की गई है (३/१६८) साथ ही अंग-अंग में कपूर का सघन लेप करने तथा शीश भाग को कुसुम भार से सज्जित करने का भी उल्लेख हुआ है (३/१६८) । हेमन्त में केवल कुंकुम का लेप किया जाता था (३/१८६) और चंपक तैल का मृगनाभि के साथ सेवन किया जाता था(३/१८७) । अधर और कपोल के अलंकरणों में मोम मिला दिया जाता था (३/१८७) । शिशिर और वसन्त में इन श्रृंगार प्रसाधनों की चर्चा नहीं मिलती । आभूषणों में गले में स्थूल मुक्ताओं का हार (२/२७) और कमर में किंकिणियों से युक्त करधनी अथवा मेखला पहनने की प्रथा थी (२/२६) । नृत्य करते समय मेखलाओं की किंकिणियों का रुनझुन रव सुनाई पड़ता था (३/२१६)। किंकिणियों का यह मधुर रव शय्यासन पर भी अपने अस्तित्त्व की सूचना देता था (३/१७६) । कलाई में वलय अथवा कंगन (२/८०), उँगुली में मुद्रिका (२/८१) और पैरों में नूपुर (२/२७) पहने जाते थे । श्रृंगार प्रसाधनों में ताम्बूल का भी विशेष महत्व था । कर्पूर बहुल पान का सेवन करने से प्रत्यूष बेला में उगे हुए सूर्य की भाँति मुख तमतमा उठता था (३/१७६) ।

संनेहरासउ में विजयनगर के मानवेतर प्राणियों का भी उल्लेख मिलता है । इस संदर्भ में पशुओं के प्रसंग में **गाय** (३/१६६) **घोड़ा** (३/१४२) **हाथी** (३/१३३), **खच्चरी** (३/१६६) और **दादुर** (३/१४८) का नामोल्लेख हुआ है । मेढ़की के लिए सालूरि (३/१५५) शब्द का भी प्रयोग किया गया है । पक्षियों में कोयल (**कलयंठिहि** ३/१४४, **कोइल** ३/२१८), मोर (**सिहुडिहि** ३/१४४ **मोरु**, **सिहि** ३/२१२) हंस (**हंसहि** ३/१४५, ३/३६१, **धयरट्ठ** ३/१७१, **मराल** ३/१६४), **सारस** तथा **सारसि** (३/१६५), चक्रवाक (**रहंग** ३/१७१) तथा **कीर** (३/२१७) की चर्चा हुई है । कीट-पतिंगों में सामान्यतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान भौंरे को दिया जाता है । इसके लिए कवियों ने अलि, भ्रमर, भृंग, मधुकर, छपद, चंचरीक, मधुप, शिलीमुख, षटपद आदि अनेक नामों का प्रयोग किया है । **संनेहरासउ** में भी इसे बहुत अधिक महत्व मिला है । कवि ने तीन स्थलों पर **अलि** (३/१४७) भ्रमर (**भमरु** ३/२०५) और मधुकर (**महुयर** ३/२१६) नामों से इसका स्मरण किया है । अन्य पतिंगों में केवल पतंग (**पंतगु** २/१११) और **मच्छर** (३/१४६) का उल्लेख मिलता है । कीटों के प्रसंग में सर्प (**अहि** ३/१३५), भुजंग (**भुअंगि** ३/१३७), नाग (**णाय**

३/१४५), फणीन्द्र (**फणर्दिहिं** ३/१४५, ३/१६०) और वीर बहूटियों (**इन्दोएहि** ३/१४३) की चर्चा की गई है ।

विजयनगर की विरहिणी ने सामान्य जीवन की जिन उपयोगी वस्तुओं का उल्लेख किया है उनमें शय्यासन (**सिज्जासणउ** २/८६) खाट का पावा (**खट्टंग** २/८६), दीपक (**दीव** २/१११), पलंग (**पल्लंग** ३/१८८), बिछौना (**सत्थरहु** ३/१८६), बिछौनों के ऊपर बिछाया जाने वाला कमलदल (**कंदुट्टदल** ३/१८६, **कमलदल** ३/१३६), घड़ा (**कुम्भो** २/१००)आदि के प्रसंग महत्व-पूर्ण हैं।

विरहिणी के विवरण में कुछ पौराणिक प्रसंगों विश्वासों, लोक मान्यताओं और तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों और आस्थाओं का भी उल्लेख हुआ है। इस संदर्भ में समुद्रमंथन (२/११८) विष के साथ चन्द्रमा का जन्म लेना (३/१३७) यम की चंचल जिह्वा (३/१३२), खाण्डव वन में लगी हुई अग्नि (२/८४), सुरलोक (२/७५), कुसुम बाण (३/१३७) अथवा कामदेव के बाण (३/२६४), इन्द्रगोपियाँ (३/१४३), लक्ष्मी (३/२०५), समुद्रस्थित बड़वाग्नि (३/२०७) अगस्त्य ऋषि (३/१५६) तथा कापालिक प्रसंग (२/८६) उल्लेख्य कहे जा सकते हैं। कापालिक प्रसंग में विषम समाधि, सिद्धासन और खट्वांग की भी चर्चा की गई है।

सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से जो अन्य सूचनाएँ विजयनगर के संबंध में मिलती हैं उनके प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि वहाँ चोरी (२/६५), शराब (३/१६५) और जुये (२/१०१) का प्रचलन था। दीवारों पर चित्र बनाने (२/६६) और संदेशवाहक द्वारा पत्र भेजने की प्रथा थी (२/८८)। व्यवसायी के रूप में सुनार (**सुन्नारह** २/१०८) को लोकप्रियता प्राप्त थी। अर्थोपार्जन हेतु (२/६२) व्यापारी वहाँ से सुदूर देशों में (२/६३) जाते रहते थे। वे अपने प्रयोजन को बिना पूरा किये नहीं लौटते थे (२/१०२)। वर्षा ऋतु में उन्हें अत्यधिक कष्ट का सामना करना पड़ता था। पोखरियों का पानी रास्तों पर आ जाने के कारण पथिक अपने जूतों को हाथ में लेकर चलते थे (३/१४१)। दुस्तर नदियाँ उनके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती थीं। कार्यवश जिन्हें जाना आवश्यक होता था वे मार्ग पर घोड़ों से जाने के बजाय नाव से जाते थे (३/१४२)। शिशिर में भी स्थिति अच्छी नहीं रहती थी। कुहरे और धूमभार से दिशाएं अन्धकार से ढक जाती थीं, पथिकों के मार्ग बन्द हो जाते

थे और वे शीत के डर से यात्रा नहीं करते थे (३/१९३)।

उपर्युक्त संपूर्ण विवरण का सूक्ष्मावलोकन करने के उपरान्त एक बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि **संनेहरासउ** में जिस विजयनगर का उल्लेख है वह जैसलमेर में किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। जैसलमेर के प्रसंग में इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया में जो सूचना दी गई है उससे पता चलता है कि वहाँ की भूमि, रेतीली होने के कारण, वर्षा-ऋतु में जो बहुत थोड़ी सी वृष्टि होती है, उस पानी को सोख लेती है और पानी कभी भूमि के ऊपर-ऊपर नहीं बहता।[1] विजयनगर की जलवायु इससे सर्वथा भिन्न दिखायी पड़ती है। फिर जैसलमेर में ऐसी बर्फ़बारी भी नहीं होती जिससे धवलगृह ढक जायें। स्पष्ट है कि विजयनगर को आधुनिक जैसलमेर में स्थित नहीं माना जा सकता। कुछ क्षणों के लिए ध्यान जाता है कि कहीं यह वही प्रसिद्ध विजयनगर तो नहीं है जो सुदूर दक्षिण में तुंगभद्रा के किनारे है। विचार करने पर यह बात इसलिए स्वीकार्य नहीं जान पड़ती कि विजयनगर (बीजानगर) की स्थापना सन् १३३६ ई० में हुई थी।[2] **संनेहरासउ** उससे लगभग सौ वर्ष पूर्व की कृति है। ऐसी स्थिति में तुंगभद्रा की गोद में स्थित विजयनगर **संनेहरासउ** का विजयनगर नहीं हो सकता।

अवचूरी के आधार पर विजयनगर का दूसरा नाम विक्रमपुर भी बताया गया है।[3] इतिहास में विक्रमपुर नामक स्थान जो १३ वीं शताब्दी ई० में प्रसिद्ध था चोल देश में स्थित बताया गया है।[4] मूलस्थान से खंभात जाने वाला पथिक यदि किसी कार्यवश चोल देश होता हुआ खंभात जाता है, यह मान भी लिया जाय, तो भी **संनेहरासउ** में विजयनगर का जो भौगोलिक विवरण मिलता है वह चोल देश में स्थित विक्रमपुर से मेल नहीं खाता।

मलिक मोहम्मद जायसी ने **पदमावत** में जिस बीजागढ़ (बीजापुर) का उल्लेख किया है[5] उसकी भौगोलिक स्थिति **संनेहरासउ** में वर्णित 'विजयनगर'

---

१. दि इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया, वाल्यूम १४, पृ० ५
२. हिन्दी विश्वकोश, भाग १०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, १९६८ ई०, पृ० ४६५
३. संदेशरासक, पृ० ८०
४. दि इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया, वाल्यूम २२, पृ० ४
५. बीजानगर बिजयगिरि राजा। पदमावत १३८/४

से बहुत साम्य रखती है। बीजागढ़ अथवा बीजापुर या विजयापुर मैसूर राज्य में स्थित जिला है जिसके उत्तर में महाराष्ट्र राज्य, पूर्व में गुलबर्गा, दक्षिण में रायचूर एवं धारवाड़ तथा पश्चिम में बेलगाँव जिले स्थित हैं[१]। यह नगर बहुत प्राचीन है और ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में भी इसका महत्व रहा है। यह सन् ६७० ई० से ६८० ई० तक विक्रमादित्य प्रथम और सन् ७३३ ई० से सन् ७४७ तक विक्रमादित्य द्वितीय के शासनाधीन था। सन् ६९७ से ७३३ ई० तक विजयादित्य ने यहाँ शासन किया। **संनेहरासउ** के रचनाकाल में यहाँ का शासक देवगिरि यादव था जिसने सन् ११९० ई० में शासन संभाला।[२] विक्रमादित्य के नाम पर संभव है बीजापुर को कभी विक्रमपुर भी कहा जाता रहा हो और विजयादित्य के समय में विजयापुर या विजयानगर नाम प्रचलित रहा हो।

विजयापुर या बीजापुर में कृष्णा, भीमा, घाटप्रभा, बेलगी, कपिला, संगम आदि नदियाँ हैं जो पूरे वर्ष जल से भरी रहती हैं। वर्षाऋतु में यह और भी विस्तृत होकर आपस में मिल जाती हैं और केवल नाव के द्वारा ही कहीं जाया जा सकता है[३]। अद्दहमाण की विरहिणी ने विजयनगर के सम्बन्ध में भी ऐसी ही सूचना दी है।

णिवड लहरि घण अंतरि संगिहि दुत्तरिहिं,
करि कलयलु कल्योलिहि गज्जिउ वरसहिँ।
दिसि पावासुय थक्किय णियकज्जाग मिहिँ,
गमियइ णाविहिँ मग्गु पहिय ण तुरंग मिहिँ ॥[४]

बीजापुर या विजयापुर में **संनेहरासउ** में वर्णित सहकार वनों (३/१३३) की ही भाँति आम के वृक्षों के बड़े-बड़े बाग़ पाये जाते हैं। यह आम गोआ के आमों से बहुत मिलते जुलते हैं।[५] ग्रीष्म-ऋतु में यहाँ गरमी बहुत अधिक पड़ती है और हेमंत में सरदी भी कम नहीं पड़ती।[६] इस प्रकार यह जलवायु भी

१. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड ३, पृ० ३१३
२. बॉम्बे गजेटियर, वाल्यूम २३, बीजापुर, पृ० ३८४-८६
३. वही, पृ० ७
४. संनेह रासउ, ३/१४२
५. बाम्बे गजेटियर, वाल्यूम २३ पृ० ६३
६. वही, पृ० १२

संनेहरासउ के विजयनगर की जलवायु से भिन्न नहीं है। किन्तु इतना साम्य होते हुए भी यह बात विचारणीय है कि पथिक मूलस्थान से खंभात जा रहा है। खंभात स्थल मार्ग से जाने के लिए वह पहले बीजापुर या विजयापुर क्यों जायेगा ? अद्दहमाण ने यदि पथिक के मार्ग का भी संकेत कर दिया होता तो विजयनगर को पहचानने में बड़ी सुविधा होती।

एक संभावना यह भी है कि उत्तर प्रदेश में स्थित बिजनौर[1] का नाम कभी विजयनगर रहा हो और बाद में बिगड़कर बिजनौर बन गया हो। मूलस्थान से खंभात जाने वाला पथिक बिजनौर होकर जा भी सकता है। बिजनौर भी एक प्राचीन नगर है। किन्तु अकबर से पूर्व इस नगर का इतिहास नहीं मिलता। जनश्रुतियों के आधार पर यह विश्वास चला आ रहा है कि सीता की अग्नि परीक्षा यहीं हुई थी। बिजनौर वासियों का विश्वास है कि राजा बेन ने इस नगर की स्थापना की थी। बिजनौर में राजा बेन को रामचन्द्र जी का समकालीन मानते हैं जबकि एटा में उन्हें शहाबुद्दीन ग़ोरी (१२०२—१२०६) का समकालीन माना जाता है। कालिदास ने यहां की मालिनी नदी का **शाकुन्तलम्** में उल्लेख किया है।[2]

बिजनौर और **संनेहरासउ** के विजयनगर का साम्य द्रष्टव्य है। दोनों ही नदियों, पोखरियों और तालाबों वाले नगर हैं। दोनों में सुगन्धित आमों के बड़े-बड़े बाग़ात हैं जिन पर तोतों के झुण्ड बैठे रहते हैं। दोनों ही गन्ना की पैदावार वाले क्षेत्र हैं। दोनों ही धवल गृहों और प्राकारों से मंडित हैं। दोनों ही स्थलों पर तुषारपात होता है। दोनों ही वर्षा ऋतु में अति वृष्टि के कारण जलाशयों से भर जाते हैं। फिर भी निश्चय पुर्वक इस प्रसंग में कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब मूलस्थान से गोपनीय लेख का उपदेश ग्रहण करके खंभात जाने वाले पथिक द्वारा प्रस्तुत किये गये सांस्कृतिक विवरण पर भी विचार कर

---

१. बिजनौर रुहेलखण्ड के उत्तर पश्चिमी किनारे पर है उसकी पश्चिमी सीमाएँ गंगा नदी द्वारा निर्मित होती हैं। उत्तर और उत्तर पूर्व की ओर गढ़वाल पड़ता है। पूर्व की ओर फीकी नदी है जो इसे नैनीताल और मुरादाबाद से अलग करती है। (डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स आँव दि यूनाइटेड प्राविन्सेज आँव आगरा ऐण्ड अवध, वाल्यूम १४, बिजनौर, सन् १९०८ ई०, पृ० १

२. वही, पृ० १६०

लेना अपेक्षित जान पड़ता है। पथिक ने अपने नगर का नाम साम्बपुर बताया है—**णयरणामु सामोरु** (२/४२)। इस नगर के प्रसंग में डा० माता प्रसाद गुप्त लिखते हैं—"सामोर को संस्कृत टीकाकारों ने मुलतान नगर बताया है। किन्तु मुलतान के इतिहास में उसका एक अन्य नाम मिलता है, यह नाम नहीं मिलता है (दे० इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया में मुल्तान)। स्पष्ट ही यह 'साम्बपुर' है जैसा अन्य विद्वानों ने भी माना है। किन्तु यह साम्बपुर देश के मानचित्र में कहाँ है यह नहीं ज्ञात होता है। मोनियर विलियम्स ने 'साम्ब', साम्बपुर और 'साम्बपुरी' नाम देते हुए अपने कोश में लिखा है, साम्ब कृष्ण और जाम्बुवती के पुत्र थे, जिन्हें कहा गया है नारद ने सूर्योपासना और व्यास ने मगों के धार्मिक कृत्यों की दीक्षा दी थी; कहा जाता है कि चन्द्रभागा के तट पर साम्ब ने एक नगर की स्थापना की थी, जिसका नाम साम्बपुर या साम्बपुरी हुआ। चन्द्रभागा और चेनाब एक ही हैं। मुल्तान भी चेनाब पर स्थित है और वह भी किसी समय प्रसिद्ध आदित्य तीर्थ था। किन्तु इतने साम्य के होते हुए भी यह असंभव नहीं है कि साम्बपुर चन्द्रभागा पर ही स्थित एक अन्य स्थान रहा हो।[१]"

आश्चर्य है कि डा० गुप्त को इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया में उद्धृत मुल्तान के विभिन्न नामों में 'साम्बपुर' किस प्रकार नहीं मिला? संभवतः डा० गुप्त ने इसे ठीक से पढ़ने का प्रयत्न नहीं किया। गज़ेटियर में स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ है—Multan formerly called Kashtpur, Hanspur, Bagpur, Sanbpur, Sanabpur, and finaly Mulasthan[२]. ऐसी स्थिति में 'मूलस्थान' और 'साम्बपुर' को दो भिन्न स्थान किस प्रकार

---

१. भारतीय साहित्य, जनवरी १९६०, वर्ष ५ अंक १, पृ० १११

२. दि इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया (दिल्ली संस्करण) वाल्यूम १८, पृ० ३५
अरबी भाषा में च वर्ण स में परिवर्तित हो जाता है जैसे चीन>सीन। चन्द्रभागा का 'चन्द्र' ओर फ़ारसी का 'आब' शब्द मिलकर चन्द्राब=चनाव शब्द के अस्तित्व में आने की बात सोची जा सकती है। इसी चनाब का अरबी उच्चारण सनाब है जिससे 'सनाबपुर' बना प्रतीत होता हैं। बे अक्षर के साथ नू जब मिलता है तो म की ध्वनि आती है। अरबी में अनबर को अम्बर और अनबिया को 'अम्बिया' के रूप में उच्चरित करते हैं। सनाब शब्द से साम्ब शब्द के विकास की बात भी इस दृष्टि से विचारणीय है।

मान सकते हैं ? वस्तुतः 'साम्बपुर' और 'मूलस्थान' एक ही हैं। पथिक ने साम्बपुर का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

यह नगर धवल तुंग प्राकारों और त्रिपुरों से मण्डित है। यहाँ पर कहीं तो चारों वेदों के ज्ञाता वेद की व्याख्या करते हुए दृष्टिगत होते हैं और कहीं विविध रूपों से निबद्ध रासक पढ़े जाते हैं (२/४३) सुदवच्छ, नलचरित और महाभारत की कथाएँ यहाँ बहुत लोकप्रिय हैं (२/४४) यहाँ चतुर अभिनेताओं (मायावीनट) द्वारा रामायण का अभिनय किया जाता है (२/४४) यह सूचना राम कथा के विकास के साथ-साथ रामलीला के इतिहास पर भी प्रकाश डालती है और इस दृष्टि से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। यद्यपि पथिक ने इसका संकेत नहीं किया है कि रामायण का अभिनय केवल मनोरंजन की दृष्टि से होता था अथवा धार्मिक दृष्टि से भी। फिर भी इतना संकेत मिलता ही है कि १३ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में रामकथा को कितनी लोक प्रियता प्राप्त थी।

साम्बपुर अथवा मूलस्थान में संगीत और नृत्य का बहुत प्रचलन था। वाद्यों में वंशी-वीणा,[१] काहल[२] और मुरज[३] बहुत लोकप्रिय थे (२/४५)। संपन्न और आर्थिक दृष्टि से समर्थ रसिक जनों की नृत्य में विशेष रुचि थी। वे उन नर्तकियों के गीत सुनकर आनन्दित होते थे जिनके कटिवस्त्र नृत्य करते समय चंचल हो उठते थे (२/४५)।

साम्बपुर में वेश्याओं के लिए वेश्याबाड़ा होता था (२/४६)। **वेसाबडइ** शब्द इसका संकेत करता है कि वेश्याएँ नगर के अन्य भवनों की तरह निर्मित

---

१. 'वंसवीण' का अर्थ बंशी और बीणा करना उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यह एक ही शब्द प्रतीत होता है जिसे 'वंशवीणा' के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। हर्ष चरित में अलाबु-बीणा का उल्लेख मिलता है (१३१)। अलाबु वीणा अलाबु की बनी हुई वीणा होती थी जिसकी तूंबी नीचे की ओर होती थी। वंश वीणा भी ऐसा ही वाद्य प्रतीत होता है।

२. वासुदेव शरण अग्रवाल ने शंकर के आधार पर (कांस्यद्वयाभिघात) काहल को नगाड़ा बताया है जिसका नीचे का भाग फूल का बनाया जाता था। (हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६७)

३. मुरज अथवा मुरउ एक प्रसिद्ध वाद्य था जो प्राचीन काल से भारत में लोकप्रिय था। जायसी ने 'मुर' के नाम से इसका उल्लेख किया है (पदमावत : ६३९/७)। यह एक प्रकार का मृदंग था।

इमारतों में नहीं रहतीं थीं। उनके लिए पृथक् रूप से एक चहारदीवारी घेर कर रहने का स्थान बनाया गया था जिसे वेश्या-बाड़ा कहते थे। यहाँ की सुन्दरियाँ आँखों में काजल लगाती थीं (२/४७), शारीरिक सज्जा के लिए मदनपट्ट को मृगनाभि से चर्चित करती थीं और भाल को तिरछे तिलक से अलंकृत करती थीं (२/४८)। आभूषणों में कानों में रत्न ताटंक (२/४६), गले में स्थूल मुक्ताओं वाला हार (२/४६), कमर में रत्ननिबद्ध मेखला और पैरों में नूपुर पहने जाते थे (२/५२)। स्त्रियाँ पैरों में चमड़े के जूते (२/५३) भी पहनती थीं जिनसे चलते समय सुन्दर मधुर शब्द होते थे। पान खाने की प्रथा आम थी (२/५१)। पान में कैसे-कैसे मसाले पड़ते थे और पान का पत्ता किस स्तर का होता था इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि पथिक के पैर पान की बहती हुई पीक में फिसल जाते थे (२/५४)।

साम्बपुर की वनस्पतियों की चर्चा बड़े विस्तार से (५५-६३) की गयी है। संक्षेप में यह बताया गया है कि वृक्षों की निविड़ निरन्तर छाया में दस योजन तक जाया जा सकता है। (२/६४)

ऐसे सुन्दर नगर का रहने वाला पथिक खंभात जा रहा है। खंभात में विरहिणी का पति भी वाणिज्य के लिए गया हुआ है। इन विवरणों से पता चलता है कि **संनेहरासउ** के रचनाकाल में खंभात वाणिज्य का महत्वपूर्ण केन्द्र था। मारकोपोलो ने अपने विवरण (१२९३ ई०) में खंभात का उल्लेख एक महान् व्यापार स्थल के रूप में किया है। उसी का समयुगीन मैरिनो सानुडो खंभात को भारत के दो महान् बन्दरगाहों में से एक बताता है।[१]

खंभात की खाड़ी के सिरे पर माही नदी के उत्तर में, अहमदाबाद से दक्षिण की ओर बावन मील की दूरी पर खंभात नगर स्थित है। प्रारम्भ में यह चारों ओर से ऊँची ईंट की दीवारों से घिरा हुआ था। यहाँ जैन साधू बड़ी संख्या में रहते थे। जैन मन्दिर के भग्नावशेषों से खंभे लेकर सन् १३२५ ई० में मुहम्मद शाह ने एक जामा मस्जिद का निर्माण कराया था।[२] खंभात के जूते बहुत प्रसिद्ध थे और ये दूर-दूर देशों में जाते थे। विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध की दृष्टि से खंभात के बन्दरगाह का अपूर्व महत्व था।

---

१. **दि इम्पीरियल गजेटियर ऑव इण्डिया वाल्यूम ९, आक्सफोर्ड १९०८ ई०,** पृ० २९७

२. **वही, पृष्ठ २९७**

मूलस्थान से खंभात और खंभात से मूलस्थान व्यापारी आते-जाते रहते थे।[1]

ईसा की १२ वीं शताब्दी में भारतीय सूफ़ियों के नाथ योगियों, तांत्रिकों और जैन साधुओं से बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध थे। वे परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते थे। संनेहरासउ की अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों का जैन मन्दिरों से उपलब्ध होना इस बात का प्रमाण है कि जैन धर्मावलंबियों के बीच सूफ़ी विचारधारा कितनी लोकप्रिय थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लोक जीवन से निकट होने के कारण कवि ने भारतीय जन जीवन के सांस्कृतिक पक्ष की जो सहज झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं उनके फलस्वरूप विरहिणी के व्यथा कातर मन की पिघलती वेदनाओं के साथ पाठक अनायास ही आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने पर विवश हो जाता है।

उपसंहार

अद्दहमाण भाषा काव्य के वह प्रथम कवि हैं जो अपनी काव्य-कृति की साहित्यिकता, लोकतात्त्विकता, उत्कृष्टता, सहृदयता और अपूर्व सहजता के लिए साहित्य जगत् में याद किये जाते रहेंगे। सूफ़ी विचारधारा को भारतीय जनजीवन में अकृत्रिम रूप से ढालकर इस देश की मिट्टी का अद्दहमाण ने जो सत्कार किया है वह इस महान् राष्ट्र की भावनात्मक एकता में विश्वास रखने वालों के लिए अविस्मरणीय रहेगा। गंगा, महाभारत नन्दनवन और शैलजा

---

१. इब्ने बतूता ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि यहाँ के नागरिक बाहरी देशों के साथ व्यापार करते हैं। मूल रूप से खंभात का वैभव, व्यापार और कारोबार अरब और इराक़ के व्यापारियों कारण है।
(सफ़र नामा इब्ने बतूता [अरबी] मिस्र से प्रकाशित द्वितीय खण्ड पृ० १२७-१२६)
खंभात से होने वाले व्यापारों में रेशम, सोने का सामान और छींट प्रमुख थे।
[हिन्दी विश्वकोश, खण्ड ३, पृ० ३१३]
प्रसिद्ध भूगोल लेखक मसऊदी सन् ३०० हिजरी के लगभग मुलतान में आया था और ३०३ हि० में खंभात पहुँचा। सुल्तान अल्तमश के समय में प्रसिद्ध इतिहास लेखक औफ़ी सिन्ध से खंभात गया। इब्ने बतूता भी दिल्ली से दौलताबाद और सागर होता हुआ खंभात पहुँचा था।
[नदवी, अरब ओर भारत के सम्बन्ध, पृ० ३३, २३०, २३२]

पार्वती के देश का कवि अपने काव्य के माध्यम से मशहद और खुरासान की यात्रा नहीं करता। वह इसी देश के जन-जीवन में डूबकर सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहता है।

संनेहरासउ की भाषा अपने युग की प्रतिनिधि काव्य-भाषा है। गूढ़ात्मक अर्थों और आध्यात्मिक संकेतों का संपूर्ण काव्य में निर्वाह हुआ है फिर भी काव्य कौशल की उत्कृष्टता आदि से अन्त तक विधिवत बनी हुई है। श्रृंगार प्रिय और रसिक जनों के लिए यह काव्य कृति रतिगृह के तुल्य तो हैं ही सुरतियोग में विदग्ध जनों के लिए इसका एक-एक शब्द कर्णपुटों में अमृत घोलता है। दूसरे शब्दों में इसमें एक ओर लोक का आनन्द है तो दूसरी ओर परलोक का सन्तोष। लौकिक दृष्टि से देखने पर यह विशुद्ध लौकिक काव्य है और आध्यात्मिक दृष्टि से परखने पर यह एक आध्यात्मिक काव्यकृति है। इसके गूढ़ार्थों में ही इसकी काव्यात्मा है और यह काव्यात्मा अभिनंदनीय है।

सुल्तानुत्तारकीन

शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी

२

सुल्तानुत्तारकीन शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी

हिन्दी से अनुराग रखने वाली अनेक ऐसी विभूतियाँ हैं जो अभी तक अन्धकार में पड़ी हुई हैं । भक्तियुगीन हिन्दी काव्य के अध्ययन में इनके योगदान पर विचार करने से वैचारिक विकास की जिन शृङ्खलाओं का संकेत मिलता है उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता । हिन्दी के साहित्येतिहास लेखकों ने भक्तिकाल का प्रारम्भ संवत् १३७५ अथवा १४०० से माना है और यह मान्यता आज भी स्वीकृत है । द्रष्टव्य यह है कि संवत् १३७५ से पूर्व उत्तरी भारत में अनेक ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने सन्तकाव्य के लिए स्वस्थ भाव भूमि तैयार कर दी थी । बाबा फ़रीद (मृ० संवत् १३२२) की भक्ति परक रचनाओं को भक्तियुगीन सीमाओं में न रखना किसी प्रकार भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता । सूफ़ियों की चिश्तिया शाखा में शेख़ मुईनुद्दीन चिश्ती के समय से ही हिन्दी लोकप्रिय रही है । सूफ़ियों के आध्यात्मिक गायन-वादन में हिन्दी की कर्ण मधुर स्वर लहरियों को फ़ारसी से भी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई भारत में सूफ़ी विचारधारा के विकास में हिन्दी एक सशक्त माध्यम का कार्य करती रही है । ईसा की १३ वीं १४ वीं शताब्दियों में सूफ़ियों की स्फुट हिन्दी रचनाएँ **समा** में अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त किये हुए थीं । **समा** (सूफ़ियों का आध्यात्मिक गायन-वादन) की लोकप्रियता के साथ-ही-साथ हिन्दी भी सूफ़ियों के मध्य लोकप्रिय होती रही ।

शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी ईसा की १२ वीं १३ वीं शताब्दी के उन सूफ़ी महात्माओं में हैं जो अरबी और फ़ारसी भाषाओं के साथ हिन्दी को भी एक महत्त्वपूर्ण भाषा के रूप में स्वीकृति देते थे। पत्र-व्यवहार, मलफ़ूज़ात और वैचारिक आदान-प्रदान में हिन्दी की काव्य रचनाओं का उद्धरण देकर हिन्दी के प्रति अपने अनुराग को व्यक्त करने में उन्होंने कहीं भी संकोच से काम नहीं लिया है।

जीवन परिचय

भारतीय सूफ़ियों के इतिहास में हमीदुद्दीन नामक दो उच्च कोटि के सन्तों का नाम मिलता है। एक हैं क़ाज़ी हमीदुद्दीन नागौरी और दूसरे हैं शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी। दोनों ही मारवाड़ में स्थित नागौर जनपद के निवासी थे और दोनों ही का समय लगभग एक है। अन्तर केवल इतना है कि एक के नाम के साथ क़ाज़ी शब्द और दूसरे के नाम के साथ सूफ़ी शब्द जोड़ने की प्रथा है। क़ाज़ी हमीदुद्दीन नागौरी शेख़ शहाबुद्दीन सुहरवरदी के शिष्य और उत्तराधिकारी थे जबकि शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी शेख़ मुईनुद्दीन चिश्ती के उत्तराधिकारी थे।

शेख़ साहब का वास्तविक नाम मुहम्मद अथवा अबू अहमद था[1]। उच्चकोटि के सूफ़ी महात्मा तथा बैरागी होने के कारण 'सुलतानुत्तारकीन' की उपाधि से प्रसिद्ध हुए। शेख़ साहब के पूर्वज शेख़ अहमद लाहौर से दिल्ली, आ गये थे। शेख़ अहमद ज्योतिषाचार्य के रूप में जाने जाते थे।[2] शेख़ हमीदुद्दीन का जन्म सन् ११८३ ई० में हुआ।[3] युवावस्था में ही ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की शिष्यता में आ गये और अजमेर में उनके संपर्क में रह कर सूफ़ी साधना का अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया। नागौर में स्थित सवाली नामक ग्राम में शेख़ साहब के पास कुल एक बीघा भूमि थी जिस पर वे स्वयं

१. अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में संरक्षित सुरुरुस्सुद्दूर की पाण्डुलिपि के साथ संलग्न मलफ़ूज़ात. पृ० ११ तथा शहज़ादा दाराशिकोह कृत सफ़ीनतुल औलिया, कराँची, जनवरी १९५९, पृ० १२९
२. सुरुरुस्सुद्दूर, पृ० ११
३. वही, [डा० अतहर अब्बास रिज़वी के अनुसार शेख़ साहब का जन्म ११९२ ई० के लगभग हुआ] देखिए अलखबानी, प्रस्तावना भाग, पृ० ३५

खेती करते थे। शेख़ साहब की पत्नी सूत कातकर कपड़े बुनती थीं। जीविकोपार्जन के लिए यही सब कुछ था। नागौर के हाकिम ने शेख़ साहब को और भी भूमि प्रदान करने का प्रयास किया किन्तु उन्होंने इस प्रकार की कोई भूमि स्वीकार नहीं की। शेख़ साहब का ग्रामीण जीवन एक उच्च कोटि के सूफ़ी महात्मा का जीवन था। फलस्वरूप सूफ़ी शब्द उनके नाम का अभिन्न अंग बन गया।

शेख़ साहब के सहज और अकृत्रिम जीवन में अहिंसा को विशेष महत्त्व प्राप्त था। मांस खाने से शेख़ साहब को अत्यधिक घृणा थी। उन्होंने आदेश दे दिया था कि उनकी मृत्यु के उपरान्त भी उनकी आत्मा की शान्ति के लिए मांस न बाँटा जाय। हिन्दी भाषा से शेख़ साहब को विशेष प्रेम था। उनके घर में स्थानीय हिन्दी का ही प्रयोग होता था। शेख़ साहब का निधन अक्तूबर सन् १२७४ ई० में हुआ और वे नागौर में दफ़नाए गये। उनके मक़बरे का निर्माण ख़्वाजा हुसैन नागौरी ने कराया। सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक़ ने मक़बरे के चारों ओर सन् १३३२ ई० में दीवार खिंचवादी।[1]

शेख़ साहब के पुत्र शेख़ अज़ीज़ुद्दीन भी अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी महात्मा थे। उनका निधन शेख़ साहब के जीवन काल में ही हो गया था। फलस्वरूप शेख़ अज़ीज़ुद्दीन के पुत्र शेख़ फ़रीदुद्दीन महमूद अपने दादा के उत्तराधिकारी हुए। सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक को शेख़ हमीदुद्दीन के प्रति गहरी श्रद्धा थी। उसने नागौर में १० ग्राम शेख़ अज़ीज़ुद्दीन के पुत्रों को प्रदान किये और शेख़ फ़रीद को दिल्ली बुलवा लिया। वहाँ उनके पौत्र शेख़ फ़तहुल्लाह से उसने अपनी कन्या बीबी रास्ती का विवाह कर दिया। शेख़ फ़तहुल्लाह अपने दिल्ली के निवास से सन्तुष्ट नहीं थे। वे नागौर में स्थित डेह नामक अपने गाँव का स्मरण करते रहते और हिन्दी तथा फ़ारसी में कविताएँ रचकर पढ़ा करते। उनकी हिन्दी कविता का नमूना यह है—

मेरा हियरा दहदहा जी जानै डेह जाऊँ।
सागर फूँक करैला खा, खालिक़ से नेह लगाऊँ।[2]

---

१. जमाली, सियरुल आरिफ़ीन, देहली १८९४ ई०, पृ० १३-१४ तथा सुरुरुस्सुदूर, पृ० १३
२. सुरुरुस्सुदूर की पाण्डुलिपि के साथ संरक्षित मलफ़ूज़ात, पृ० १२७

तत्त्व-चिन्तन तथा विचारधारा

शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी अरबी, फ़ारसी तथा हिन्दी तीनों ही भाषाओं में गहरी पैठ रखते थे। क़ाज़ी हमीदुद्दीन की भाँति इन्हें भी **समा** से विशेष रुचि थी। **फ़ुतूहुस्सलातीन** से यह सूचना मिलती है कि सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के राज्य काल में शेख़ साहब दिल्ली पधारे। वहाँ वे रात-दिन **समा** सुना करते थे और इसी में आनन्द मग्न रहते थे। सम्राट् उनका बहुत सम्मान करता था। दरबार के मुफ़तियों ने सम्राट् के कान भरे। फलस्वरूप क़ाज़ी को बुलाकर प्रश्न किया गया कि **समा** शरीअत के विरुद्ध है या नहीं। उत्तर मिला कि समा आलिमों के लिए हराम है किन्तु साधकों के लिए हलाल है। **समा** पर **रिसाला फ़िस्समा** नामक आपने एक ग्रन्थ भी लिखा है।

शेख़हमीदुद्दीन प्रेम अथवा इश्क़ को मुख्य स्थान देते थे। एक व्यक्ति ने शेख़ साहब से प्रश्न किया कि चित्त किसे कहते हैं ? शेख़ साहब ने उत्तर दिया कि चित्त जगत् के बाहर है और जगत् चित्त के बाहर है। जब साधक इस चित्त के भीतर प्रवेश करता है तो जगत् से बाहर आ जाता है और जब जगत् में प्रवेश करता है तो चित्त से बाहर आ जाता है।[1]

शेख़ साहब का **वहदतुलवुजूद** के दर्शन में विश्वास था। हिन्दी के सन्त कवियों में वहदतुलवजूद (केवलत्व) का दर्शन बहुत लोकप्रिय हुआ। कबीर की रचनाओं में इसका अच्छा दिग्दर्शन होता है। शेख़ साहब का विश्वास था कि सृष्टि पदार्थ देखने में कितने ही क्यों न हों यदि उनकी वास्तविकता पर विचार किया जाय तो वे मूलतः एक ही हैं।

हिन्दी रचना

शेख़ साहब ने स्वतन्त्र रूप से हिन्दी में किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की है। किन्तु उनके मलफ़ूज़ात और चिट्ठियों में उनकी रचनाओं के उदाहरण मिल जाते हैं, इन रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व भले ही न हो किन्तु भाषा तथा तत्त्व-चिन्तन के क्रमिक विकास की दृष्टि से इन्हें महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। शेख़ साहब बाबा फ़रीद के समकालीन थे। बाबा फ़रीद को

---

१. सुरूरुस्सुदूर के साथ संरक्षित मलफ़ूज़ात,

हिन्दी से अपूर्व प्रेम था।[2]सच तो यह है कि समा की लोकप्रियता के कारण चिश्तिया सम्प्रदाय के सूफ़ियों में १३ वीं शताब्दी में हिन्दी काव्य रचनाएँ अपना स्थान बना चुकी थीं।

प्रसिद्ध है कि हज़रत ईसा के समय हकीम जालीनूस अथवा किसी अन्य से एक हकीम ने हज़रत ईसा के सम्बन्ध में बताया कि इस युग में एक ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया है जो चिकित्सा का दावा करता है और कहता है कि मुझे ख़ुदा ने भेजा है, मेरे पास आओ और मुझ पर ईमान लाओ। वह कहता है कि गरमियों में एक १६ वर्ष के नवयुयक को यदि गरमी का प्रकोप हो जाय और सरदियों में अस्सी वर्ष के बूढ़े को यदि सरदी लग जाय, तो मैं ठीक कर दूँगा। वह मृतकों को जीवित कर देता है और जो उसकी और देखता है ईमान लाता हैं। शेख़ हमीदुद्दीन इस तथ्य को जानकर बहुत प्रभावित हुए और उन्होने अरबी, फ़ारसी तथा हिन्दवी, तीनों भाषाओं में अपने विचार व्यक्त किये। हिन्दी दोहा इस प्रकार है—

औषदि भेजन धनि गई, ओउ भई बिरहीन।
औषधि दोष न जानई, नारि न चेतै तीन॥[1]

कबीर के **लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल** से तुलना करने पर उपर्युक्त दोहे में और कबीर में जो विचार-साम्य है वह सूफ़ियों की चिन्तन धारा के विकास का सकेत करता है।

शेख़ साहब अपने पुत्र अज़ाज़ुद्दीन को बहुत अधिक प्रिय रखते थे। उन्हें पत्र लिखते समय उपदेशात्मक शैली का प्रयोग करना स्वाभाविक था। एक पत्र में उन्हें बुरे मित्र की संगत से दूर रहने की नसीहत करते हुए फ़ारसी की एक चतुष्पदी के माध्यम से समझाते हैं कि बुरे मित्र की संगत प्रत्येक कार्य से बुरी है। ऐसा करके तुमने एक बुरा कार्य किया है और तुम्हारे भीतर लोभ का समावेश हो गया है। आगे चलकर एक हिन्दी दोहे के माध्यम से यह समझाते हैं कि योग में तल्लीन साधक यदि यह नहीं

---

१. **बाबा फ़रीद की हिन्दी रचनाएँ गुरु ग्रन्थ साहब [द्वितीय संचय १९५१, पृ० ७१४ तथा १३७७—१३८४] के अतिरिक्त शेख़ अब्दुल वाहिद कृत सबासनाबिल [पृ० ५८] तथा सियरुलऔलिया [पृ० ३६७] में भी मिलती हैं।**
२. **सुरुरुस्सुदूर, शेख़ हमीदुद्दीन का शेख़ अज़ीज़ुद्दीन के नाम पत्र, पृ० ७४**

जानता कि वह किसके गुणों से वशीभूत होकर योगी हो गया है और उसने अपने शरीर की यह दशा कर ली है, तो यह स्पष्ट है कि परमेश्वर उसका भला नहीं कर सकता—

जोगनि कियौं न जानई तिस गुन किज्झह कायँ ।
बहल न जोगी हाथ परतीतह आरायँ ।।[१]

इसी पत्र में आगे लिखते हैं कि जो कर्त्ता अर्थात् ख़ालिक़ के साथ अपने हृदय को जोड़ देता है वह अपने चित्त का उसी में विलयन कर देता है । बाला और स्वामी के सम्बन्ध अभिन्न हैं । इस विलयन की स्थिति में नाथ ही उसका हृदय होता है—

जे करता हीं करै हिया भोवै अपनो जी ।
इत बाला तौ सोमिही नाँहहि उसकर ही ।।[२]

पत्र में आगे लिखते हैं कि अपने-अपने स्वार्थ की सभी को चिन्ता है । इस बात की ओर ध्यान नहीं है कि रोगिणी आत्मा को योगिणी किस प्रकार बनाया जाय । यथा—

आपकार आपकार सभौ कोउ करै ।
रोगिनि कैसे जोगनि करै ।।[३]

आगे शेख़ साहब बताते हैं कि जीवात्मा में परमात्मा जब अपने रंग के रसायण का संचारण कर देता है तो रोगिणी जावात्मा योगिणी हो हो जाती है—

रोगनि गइ जोगिनि करी, गनी गई को दोस ।
अयन रसायन संचरै रंग जो मारै ओस ।।[४]

उपर्युक्त उद्धरणों के प्रकाश में यह बात सहज रूप से कही जा सकती है कि १३ वीं शताब्दी ई० में ही सूफ़ी चिन्तकों ने नाथ-पन्थी प्रवृत्तियों को आत्मसात् कर लिया था और दार्शनिक भावभूमि पर चिन्तन के नये आयाम देने के लिए यत्नशील थे । नाथ योगियों की रचनाएँ भी

---

१. सुरूरुस्सुदूर, शेख़ अजीजुद्दीन के नाम पत्र, पृ० ७४
२. वही, पृ० ७५
३. वही.
४. वही, पृ० ७४

तसव्वुफ़ सम्मत इस्लामी विचारधारा को अंगीकृत कर रही थीं। **गोरखबानी** में क़ाज़ी, मुलाँ (१४), पीर, तकबीर, मंहमद, षुदाइ (११८), अलह (१८२) पैकम्बर (२२५), कलमा (११), आदि अनेक इस्लाम धर्म सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग हुआ है। '**उत्पति हिन्दू जरणाँ जोगी अकलि परि मुसलमानी**'[1] के माध्यम से गोरखनाथ ने इस तथ्य का अनावरण कर दिया है कि एक हिन्दू परिवार में जन्म लेने के कारण वे उत्पत्ति से हिन्दू हैं, वेष से योगी हैं और चिन्तन के क्षेत्र में इस्लाम से प्रभावित हैं।

सूफ़ियों के मध्य **इजमाल** (संकुचन) और **तफ़सील** (विस्तारण) की विचार-धारा बहुत महत्व रखती है। विस्तारण की स्थिति में सम्पूर्ण जगत् उसी के अस्तित्व का प्रकट रूप है और संकुचन की स्थिति में सब कुछ शून्य मात्र है। एक पुरुष के दसियों नाम हैं किन्तु उसे कोई बिरला ही जान पाता है। शेख़ साहब ने इस विचार को एक दोहे में इस प्रकार व्यक्त किया है—

जो बिस्तरै तौ सबै सकत, संकोवै सो सोय।
एक पुरुख के नाँव दस, बिरला जानै कोय॥[2]

शेख़ साहब के मलफ़ूज़ात में एक संक्षिप्त लेख ऐसा भी उपलब्ध हुआ है जिसमें हिन्दी के पाँच दोहे उद्धृत हैं। इन दोहों की विशेषता यह है कि ये प्रसिद्ध फ़ारसी कवि निज़ामी गंजवी (मृ० १२०९ ई०) की एक ग़ज़ल का छायानुवाद हैं। इन्हें एक फ़ारसी शेर और एक दोहे के क्रम से लिखा गया है। इनके प्रकाश में यह अनुमान किया जा सकता है कि शेख़ साहब को तत्कालीन हिन्दी भाषा पर कितना अधिकार था। फिर यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि फ़ारसी काव्य में विद्यमान सूफ़ी विचार धारा को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न १३ वीं शताब्दी में ही होने लगा था।

यहाँ निज़ामी गंजवी की फ़ारसी गज़ल का शेख़ साहब द्वारा किया गया फ़ारसी छायानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—

फ़ारसी शेर

दर जान ज़नीम आतश अग्यिरह चुनीं खुश्तर।
यादे न दही अज़ मा ग़मख़्वारह चुनीं ख़ुश्तर॥

---

१. **गोरखनाथ : गोरखबानी [सं० डा० बड़थ्वाल], प्रयाग २०१७ वि०, छन्द १४**
२. **सुरूरुस्सुदूर, पृ० ६९**

हिन्दी दोहा

हिरा आध करि छोड़ गो यह बहु भेला होय।
पिउ निस्तारैं गेंव तिहि अभ निस्तारैं कोय।।

फ़ारसी शेर

सदतीर ज़नद चश्मत अन्दर जिगरे मरदुम।
दीद: न ज़नद अज़ कस ख़ूख़्वारह चुनीं ख़ुश्तर।।

हिन्दी दोहा

नैना मारैं मन लसैं सिसिका करैं न किस।
सतोजूग जिन लोहिया कौन निवारैं तिस।।

फ़ारसी शेर

बाईं दिले मजरुहम……… बेबख़शाई।
दरदे कि तुरा न बुद नज़्ज़ारह चुनीं ख़ुश्तर।।

हिन्दी दोहा

बिरह तुम्हारे यार की, बात न पूछै कोय।
भाग भयो हनतहि बिरह, सब जग बैरी होय।।

फ़ारसी शेर

गर कुश्त: शवम् अज़ ग़म बर मात न सोज़द दिल।
आरी चे कुनम जानाँ बेचारह चुनीं ख़ुश्तर।।

हिन्दी दोहा

मैं हिरदै दुख जमहिया तो तुम होय न दोह।
दुक्खी जानै दुक्ख गल उरवहि जानै उरोह।।

फ़ारसी शेर

गुफ़्ती तौ निज़ामी रा काख़र ब चे: रुख़ज़रदी।
आशिक़ चे शवद मुफ़लिस रुख़सारह चुनीं ख़ुश्तर।।

हिन्दी दोहा

अभलो भलो जो पी चहौ कै पीपल कै देह।[1]
अरथ भयो नहिं आड़ तिह धीर मनहिं तन रेह।।

---

१. सूरुरुस्सूदूर, पृ० ५०-५१

———

शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस गंगोही
'अलखदास'

३

शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस गंगोही 'अलखदास'

शेख अब्दुलक़ुद्दूस गंगोही हिन्दी सूफ़ी काव्य परम्परा के एक महत्वपूर्ण कवि हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार और प्रसार में सूफ़ी कवियों का जो योगदान रहा है उसकी अनेक कड़ियाँ व्यवस्थित रूप में अभी प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। इस दृष्टि से शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस का व्यक्तित्व भारतीय और इस्लामी तत्व-चिंतन की भावनात्मक एकता का एक सशक्त सेतु कहा जा सकता है।

जीवन परिचय

शेख़ साहब का जन्म सन् १४५६ ई० में रुदौली में हुआ। उनके पिता का नाम शेख़ इस्माईल था। वे चिश्ती परम्परा की साबिरिया शाखा में दीक्षित हुए थे। साबिरिया शाखा के संस्थापक शेख़ अलाउद्दीन अली बिन अहमद साबिर (मृ० १२९१ ई०) थे।

शेख अब्दुल क़ुद्दूस बाल्यावस्था से ही ईश्वर के ध्यान में मग्न रहते थे। उनकी इच्छा होती थी कि वे इस मायावी बन्धन को तोड़कर किसी निर्जन स्थान में चले जायँ और वहाँ निर्विघ्न रूप से तपस्या करें। क़ुरआन की शिक्षा ग्रहण की तो यह स्थिति थी कि १२ दिनों तक पानी पीने का नाम तक नहीं लिया। रुदौली शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस के जीवनकाल में शरीअत के आलिमों और सूफ़ी विचारधारा के साधकों का गढ़ बना हुआ था। शेख़

साहब के पिता की गणना भी आलिमों में होती थी। वहाँ शेख़ अहमद अब्दुल हक़ (मृ० १४३४ ई०) की ख़ानक़ाह में शेख़ पियारा[1] नामक एक सूफ़ी मसऊद बक[2] का काव्य संकलन पढ़ रहा था। शेख़ साहब को देखकर उसने पाठ करना बन्द कर दिया। आलिम परिवार में जन्म लेने वाले शेख़ साहब उसके निकट मसऊद बक का काव्य सुनना कैसे पसन्द कर सकते थे। शेख़ साहब ने शेख़ पियारा से कहा कि मैं भी इसी तौहीद (केवलत्व) के ज्ञान की खोज में हूं। फिर क्या था। तौहीद पर खुलकर बातें होने लगीं।

शेख़ साहब विवाह करने के पक्ष में नहीं थे किन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी बनीं कि उन्हें विवाह करना पड़ा। विबाह के अवसर पर जलवे[3] की

---

१. शेख़ पियारा शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस के समकालीन और शेख़ आरिफ़ आत्मज शेख़ अहमद अब्दुल हक़ के आध्यामिक शिष्य एवं उत्तराधिकारी थे। शेख़ आरिफ़ ने उन्हें "मैं ही वह रब हूँ" का भाव ग्रहण करने की शिक्षा दी थी। हिन्दी से शेख़ पियारा को बहुत अधिक प्रेम था। वे हिन्दी में काव्य रचना भी करते थे। शेख़ पियारा द्वारा रचित कुछ एक दोहे इस प्रकार हैं—

देखो री मन बूझो री देखो अंवं बानी।
सब ही रंग नीर कै माया रंग समाया पानी।।
महमद महमद जग कहै चीन्है नाहीं कोय।
अहमद मीम गँवाइया कहु क्यों दूजा होय।।
महमद फूल अनादि का फल भै आपुन सोय।
सो क्यों जानै बापुरा जिह नहीं चीन्हा होय।।
मुझ ही ते अति नीयरा सखिए मेरा कंत।
तन मन जोबन देख मैं सब ही आप इकंत।।

२. मसऊद बक (मृ० १३९७-९८ ई०) का वास्तविक नाम शेरख़ाँ था। प्रारम्भ में बड़ा ठाठदार जीवन व्यतीत करते थे किन्तु बाद में ईश्वर प्रेम में ऐसा तल्लीन हुए कि सब कुछ त्याग बैठे ओर चिश्ती शाखा में दीक्षा प्राप्त की। इन की काव्य रचनाएँ आध्यात्मिक गूढ़ार्थों से भरी हुई हैं और वहदतुलवुजूद में आस्था रखने वाले सूफ़ियों के बीच बहुत लोकप्रिय हैं।

३. इस रस्म के अनुसार वर निकाह के उपरान्त प्रथम बार स्त्रियों के झुरमुट में घिरी हुई वधू को उसी के घर में दर्पण में देखता है। इस अवसर पर ढेर सारे गीत गाये जाते हैं। इस रस्म को आरसी-मुसहफ़ भी कहते हैं। जनवे की यह रस्म भारतीय मुसलमानों में १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी विद्यमान थी। अमीर ख़ुसरो ने दीवल रानी और ख़िज्रख़ाँ नामक काव्य में इसका विस्तार से उल्लेख किया है।

रस्म के लिए जब वे घर के भीतर ले जाये गये तो वहाँ गायिकाओं ने यह गीत गाना प्रारम्भ किया—

घूंघट खोल धन्ना शह देख आयो री।
इस घूंघट रे कारन शह हाथ मरोरी ॥[1]

शेख़ साहब इस गीत पर ऐसे मुग्ध कि बेसुध हो गये। **हाल** की स्थिति में वे जिस तख्त पर बैठे थे उससे उतरकर नृत्य करने लगे और विवाह के वस्त्रों को तार-तार कर दिया। विवाहोपरान्त भी उनका जीवन फ़ाक़ामस्ती में ही व्यतीत हुआ। लोदी शासकों से शेख़ साहब को बहुत सहानुभूति थी। वे भी उनके प्रति श्रद्धा भाव रखते थे। मुगल सम्राटों में बाबर और हुमायूँ को भी वे समय-समय पर पत्र लिखते रहते थे। उनके जीवन का अधिकांश भाग गंगोह (सहारनपुर) में व्यतीत हुआ। २७ नवम्बर सन् १५३७ ई० को शेख़ साहब का निधन हो गया। शेख़ साहब के उत्तराधिकारी उनके पुत्र शेख़ रुकुनुद्दीन हुए जिन्होंने **लताएफ़े-कुद्दसी** नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ से तत्कालीन परिस्थितियों एवं शेख़ साहब के व्यक्तित्व पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है।

शेख़ साहब के गुरु

शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस विभिन्न सूफ़ियों के सम्पर्क में आये और उनसे उन्होंने ज्ञानार्जन भी किया किन्तु वे अपने गुरु के रूप में केवल शेख़ अहमद अब्दुल हक़ को ही मान्यता देते थे। द्रष्टव्य यह है कि शेख़ साहब ने शेख़ अहमद अब्दुल हक़ के दर्शन भी नहीं किये थे किन्तु स्वयं को वे सदैव उनकी आत्मा से दीक्षित समझते थे और उनकी ख़ानक़ाह की छोटी-से-छोटी सेवा करने में भी गर्व का अनुभव करते थे। शेख़ अहमद अब्दुल हक़ (मृ० १४३४ ई०) एक उदारमना सन्त और उच्च कोटि के सूफ़ी थे। हिन्दू मुसलमान दोनों ही उनके भक्त थे और उनका बड़ा आदर और सम्मान था। पंडवा के प्रसिद्ध

---

१. इस गीत के प्रकाश में यह सहज रूप से सोचा जा सकता है कि १५ वीं शताब्दी में मुस्लिम सूफ़ियों के घरों में हिन्दी गीतों को कितनी लोकप्रियता प्राप्त थी।

सूफ़ी शेख़ नूर क़ुतुबे आलम[1] (मृ० १४१० ई०) के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी। हिन्दी काव्य से शेख़ अहमद अब्दुल हक़ का बड़ा ही रागात्मक सम्बन्ध था। उनकी ख़ानक़ाह में प्राणायाम करना अनिवार्य था और हिन्दी में बातचीत भी होती थी। शेख़ अहमद अब्दुल हक़ ने हिन्दी में काव्य रचना भी की है। उनका एक सबद इस प्रकार है—

कुआँ होय तो पाटौं, समुन्द के पाटन जाय।
पाला होय तो बिरजौं, झील के बिरजन जाय ॥[2]

विचारणीय यह है कि शेख़ अहमद अब्दुल हक़ कबीरदास के पूर्ववर्ती कवि हैं। उनके सबद और दोहरे कबीर की रचनाओं से तुलना करने पर उसी विचारधारा का निरूपण करते हैं जिनका आगे चलकर संत कबीर ने किया। उदाहरणार्थ यहाँ शेख़ अहमद अब्दुल हक़ के कुछ सबद और दोहरे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

सबद

साईं समुद अपार अति हम तँह मच्छलियाँहिं।
जल में आवहिं जल रहैं मृत्तहु जल ही माहिं ॥

दोहरा

एक गुसाईं सभन महँ सो जो लखा न जाय।
जो उस सीस न न्यावही तिस माथे भग जाय ॥
बाझ पियारे साइयाँ और न देखूँ चुक्ख।
जिद्धर देखूँ हे सखी तिद्धर साईं मुक्ख ॥

---

१. शेख़ नूर क़ुतुबे आलम (मृ० १४१० ई०) प्रसिद्ध सूफ़ी शेख़ अख़ी सिराज (मृ० १३९७ ई०) के पुत्र और उत्तराधिकारी तथा बंगाल की चिश्ती ख़ानक़ाह के मुख्य सूफ़ी थे। शेख़ नूर के पत्रों का संकल भी किया गया है। इनका मक़बरा पंडवा में है। यह भी अन्य तत्कालीन सूफ़ियों की भाँति हिन्दी को प्रिय रखते थे और उसमें काव्य रचना भी करते थे। उनका यह दोहा द्रष्टव्य है—

जागा गुरु जो डूबना चेला काय तिराना।
अंधे अंधा ठेलिया दोऊ कूअ पराना ॥

[मकतूबाते क़ुद्दूसिया (हस्तलिखित अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, पत्रांक १८३, पृ० १२४–२५]

२. दुर्रुलमकनून, दिल्ली १८९३ ई०, पृ० १९-२०

क्यों हौं सीस न न्यावऊँ ऐसा देखूँ माय।
बाहर भीतर हे सखी, आयन एक खुदाय॥
यह जग वह जग देहु तिस तन मन अरथ भंडार।
साईं केरे सीस का जो दिखरावै बार॥[1]

कबीर की रचानाएँ वस्तुत: वहदतुलवुजूद के सिद्धान्तों का ही निरूपण करती हैं। रामानन्द संप्रदाय के साथ कबीर को जोड़ना मेरी दृष्टि में किसी प्रकार भी समीचीन नहीं कहा जा सकता। कबीर से पूर्व के उन सूफ़ी कवियों की रचनाएँ जो वहदतुलवुजूद की व्याख्या करती हैं कबीर से भिन्न नहीं प्रतीत होतीं। शेख़ अहमद अब्दुल हक़ की उक्त रचनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

शेख़ अब्दुल कुद्दूस का उपनाम

हिन्दी में शेख़ साहब, **अलखदास** के उपनाम से कविता करते थे। मूलत: यह उपनाम अरबी के अब्दुल क़ुद्दूस का ही हिन्दी अनुवाद है (अब्द=दास तथा क़ुद्दूस=अलख)। इस उपनाम से यह भी अर्थ ध्वनित होता है कि उसका दास जो दिखाई नहीं देता अथवा जिसे नहीं देखा। शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस ने अपने आध्यात्मिक गुरु के दर्शन नहीं किये थे। इस प्रकार अलख के माध्यम से अपने गुरु की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। अलख शब्द नाथ योगियों के मध्य बहुत लोकप्रिय रहा है। उपनाम स्वरूप इस शब्द का प्रयोग करने से नाथ योगियों के प्रभाव का भी संकेत मिलता है। फ़ारसी में शेख़ साहब का तख़ल्लुस **अहमदी** था।

रचनाएँ

शेख साहब ने फ़ारसी में अनेक ग्रंथों की रचना की। हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से उनका कोई ग्रंथ नहीं है। इस समय शेख़ साहब के पांच

---

१. प्रस्तुत रचनाएँ शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस गंगोहीकृत 'रुश्दनामा' ग्रन्थ से उद्धृत की गई हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने रुश्दनामा का मूल फ़ारसी पाठ से हिन्दी में अनुवाद एवं संपादन करके उसे भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़ से १९७१ में अलखबानी के नाम से प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थ में डा० अतहर अब्बास रिजवी ने एक विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी है जो सूफ़ी मत के इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) **अनवारुलउयून फ़ी असरारुल मकनून**, (२) **नूरुलहुदा**, (३) **क़ुर्रतुल अैन**, (४) **मकतूबाते क़ुद्दूसिया**, (५) **रुश्दनामा**। इनमें से अन्तिम दो ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनके प्रकाश में शेख़ साहब के हिन्दी प्रेम और उनकी हिन्दी रचनाओं का प्रामाणिक विवरण मिलता है। रुदौली के निवासकाल में ही शेख़ साहब ने मुल्ला दाऊदकृत **चन्दायन** का फ़ारसी में पद्यानुवाद करना भी प्रारम्भ किया था जिसे सुलतान बहलोल एवं सुलतान हुसैन शरक़ी के युद्ध के समय (१८८३-८४ ई०) बहुत-कुछ पूरा भी कर लिया था किन्तु रुदौली की राजनीतिक उथल-पुथल में यह कार्य नष्ट हो गया। **लताएफ़े-कुद्दूसी** में इस अनुवाद के तीन शेर उनके मूल के साथ उद्धृत किये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

मूल हिन्दी पाठ

ऊँच बिरिख फरु लाग अकासा। हाथ चढ़ै कइ नाहीं आसा।।
कहु जोगत को बाँह पसारै। तरुवर डाल छुवै को पारै।।
राही दिवस बहुत रखवारा। नयन देख जाइ सो मारा।।

फ़ारसी पद्यानुवाद

शजरे बलन्दस्त समर दर समा। क़तअ उमीदस्त बरुन दस्ते मा।।
जहर केरा वस्त फ़राज़ी कुनद। शाखे फ़लक दस्त के बाजी कुनद।।
रोज़ो-शबे गश्ता निगहबाँ बसे। कुश्तः शवद चंके बेबीनद कसे।।[1]

प्रस्तुत अनुवाद इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दी तथा फ़ारसी दोनों ही भाषाओं पर शेख़ साहब का समान अधिकार था। फिर इस पद्यानुवाद की विशेषता यह है कि इसमें आध्यात्मिक रूपक का सशक्त निर्वाह हुआ है और मुल्ला दाऊद के काव्य-सौन्दर्य की पूर्णरूप से रक्षा की गई है।

साधना-पद्धति एवं विचारधारा

शेख़ अब्दुल कुद्दूस **वहदतुलवुजूद** (सत्ता के केवलत्व का सिद्धान्त) के सिद्धान्त में अटल विश्वास रखते थे। यह सिद्धान्त मुस्लिम आलिमों की

---

१ **शेख रुकुनुद्दीन : लताएफ़े कुद्दूसी, पृ० १००। हिन्दी पाठ के लिए देखिए चाँदायन, सम्पादक डा० माता प्रसाद गुप्त, आगरा १९६७ ई०, पृ० ५४, कडवडक ५६,**

दृष्टि में इस्लाम विरोधी सिद्धान्त था। शेख़ साहब के पुत्रों को प्रारम्भ में बराबर यह शंका बनी रही कि इस सिद्धान्त का पालन करके वे कुफ्र कर रहे हैं। किन्तु शेख़ साहब ने उन्हें **क़ुरआन** की आयतों और हदीसों से उद्धरण देकर समझाया कि यह सिद्धान्त इस्लाम सम्मत है इस्लाम विरोधी नहीं। हिन्दी का सामान्य पाठक निर्गुण धारा के कवियों को एकेश्वरवादी मानकर सन्तोष कर लेता है किन्तु कबीर नानक आदि एकेश्वरवादी नहीं थे। वे केवलत्ववादी थे और **वहदतेवुजूदी** में विश्वास रखते थे। इस विचारधारा के मानने वालों को '**मुवहिहद**' कहा गया है।[1]

शेख़ साहब के पुत्र शेख़ रुकुनुद्दीन से प्रश्न किया गया कि यदि केवलत्व का सिद्धान्त इस्लाम सम्मत है तो योगियों के काव्य में इस विचारधारा का समावेश कैसे हुआ। उत्तर में शेख़ रुक़ुनुद्दीन ने बताया कि ईश्वर ने क़ुरआन में इसका स्पष्ट संकेत किया है कि प्रत्येक देश और जाति के लिए उसने एक पैग़म्बर भेजा है जो वहीं की भाषा में उपदेश देता है। भारत में भी अल्लाह के पैग़म्बर आये जिन्होंने केवलत्व की शिक्षा दी।[2] शेख़ अब्दुल कुद्दूस ने **रुश्दनामा** की प्रारम्भिक पंक्तियों में लिखा है कि प्रत्येक समूह इश्क़ के विषय में कोई न कोई बात कहता है। यही सिद्धान्त शेख़ अहमद अब्दुल हक़ तथा शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया का था।। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया ने यमुना में हिन्दुओं को आस्था के साथ स्नान करते देखकर कहा था—

हरक़ौमे रास्त राहे, दीने व क़िब्लागाहे।

[प्रत्येक जाति का अपना सीधा मार्ग है, धर्म है और क़िब्ला है]

---

१. कबीर के प्रसंग में शेख़ रिज़कुल्लाह मुश्ताक़ी (१४४१-१५८१ ई०) ने जो स्वयं भी हिन्दी के एक अच्छे कवि थे और 'राजन' उपनाम से कविता करते थे, अपने पिता शेख़ सादुल्लाह से पूछा—प्रसिद्ध कवि कबीर जिनकी रचनाएँ प्रत्येक व्यक्ति पढ़ता है मुसलमान थे या काफ़िर? उनके पिता ने उत्तर दिया—वे मुवहहिद (केवलत्ववादी) थे। शेख़ रिज़कुल्लाह ने पुनः प्रश्न क़िया—क्या एक मुवहहिद एक काफ़िर या एक मुसलमान से भिन्न होता है? उत्तर मिला—इस सत्य को समझना कठिन है, धीरे धीरे तुम्हारी समझ में आ जायेगा।
शेख़ रिज़कुल्लाह ने हिन्दी में दो काव्य ग्रन्थों की रचना की—(१) पैमाना (२) ज्योतिनिरंजन। यह दोनों ही ग्रंथ बहुत लोकप्रिय थे।
अख़बारुल अख़यार, दिल्ली १६१४ ई०, पृ० ३०० तथा १७४

२. शेख़ रुकनुद्दीन, लताएफ़े क़ुद्दूसी, देहली १८६३-६४ ई०, पृ० ५६

सूफियों के पास यही सम दृष्टि थी जो उन्हें लोकप्रियता प्रदान कर रही थी। **वहदतुलवुजूद** का सिद्धान्त इसी सम दृष्टि का विकास करता है। **वहदतुलवुजूद** के सिद्धान्त के प्रतिपादक इब्ने अरबी (मृ० १२४० ई०) माने जाते हैं। वैसे शेख़ अब्दुल कुद्दूस की दृष्टि में **वहदतुल वुजूद** का सिद्धान्त इस्लाम की प्रथम शताब्दी में भी विद्यमान था।[१] फिर भी इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय इब्ने अरबी को ही है। उनका कथन है— **अलवुजूद अल मुतलक़ अस्ल कुल्ल वजूद** अर्थात् परम सत्ता समस्त दृश्यमान जगत का स्रोत है। परम सत्ता अर्थात् हक़ अविभाज्य और एक है। इसे मानने के लिए अन्य सभी मान्यताओं का निराकरण करना होगा। परमेश्वर की सत्ता के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह मानव मस्तिष्क की उपज है, उसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। हक़ की पूर्ण प्रतिच्छवि केवल इनसाने कामिल अर्थात् सिद्ध पुरुष में होती है। वस्तुतः दासत्व कोई वस्तु नहीं है। दास वह है जो अपने स्वामी के आदेशों का पालन करता है। किन्तु जीव केवल पथ-बिन्दु है जिसके द्वारा ईश्वर की सर्जन-शक्ति का संचार होता है। अतः जीव ही स्वामी और स्वामी ही जीव है।[२]

फ़ारसी में इब्ने अरबी के सिद्धान्त को **हमाऊस्त** (सब कुछ वही है) के नाम से याद किया गया। मौलाना जलालुद्दीन रूमी (मृ० १२७३ ई०) ने इब्ने अरबी के **वहदतुल वुजूद** के सिद्धान्त को अपनी **मसनवी** के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व में फैला दिया। **मसनवी** के अध्ययन से पता चलता है कि यह सिद्धान्त मानव प्राणी को सौम्यता और उदारता की उच्च शिक्षा प्रदान करता है। धर्म और जाति के भेदभाव से **वहदतुल वुजूद** के सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं। ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।

मौलाना रूम की भाँति प्रसिद्ध फ़ारसी कवि फ़रीदुद्दीन अत्तर (मृ० १२३० ई०) ने अनेक मसनवियों की रचना करके **वहदतुल वुजूद** के सिद्धान्तों की व्याख्या की। मौलाना रूम ने अत्तार की विद्वत्ता से

---

१. लताएफ़े क़ुद्दूसी, पृ० ५९
२. इब्नल अरबी : फ़ुसूसुलहिकमः मिस्र १९४६ ई०, पृ० ६२

प्रभावित होकर स्वयं को उनका दास स्वीकार किया है। शेख़ अत्तार की तीन मसनवियाँ—**असरारनामा, इलाहीनामा** और **मन्तिक़ुत्तयर** अत्यधिक लोकप्रिय हुईं। महमूद शाबिस्त्री (मृ० १३२० ई०) ने **गुलशने राज़** नामक ग्रन्थ में **वहदतुल वुजूद** की गूढ़ व्याख्या की। यह कृति सूफ़ियों में अत्यधिक लोकप्रिय हुई। एक शेर में इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

बा वहदते ज़ा कसरते ख़ल्क चे बाक।
सद जाये अगर गिरह ज़नी रिश्ता यकेस्त ।।

अर्थात् सृष्टि के बाहुल्य से परम सत्ता के केवलत्व को क्या ख़तरा हो सकता है। तागे में अगर सौ गिरहें भी लगा दी जायँ तो भी वह तागा ही रहेगा। तागे को कोई और संज्ञा नहीं दी जा सकती।

शेख़ साहब की साधना में अहं के पूर्ण विनाश, घोर तपस्या तथा सद्गुरु एवं उससे सम्बन्धित जनों के प्रति निष्ठामय सेवा भाव को प्रधान स्थान प्राप्त था। अध्ययन और तपस्या शेख़ साहब का प्रिय व्यसन था। शास्त्रीय ज्ञान के प्रति बाल्यावस्था से ही उन्हें कोई रुचि नहीं थी यद्यपि शास्त्र ज्ञान उनके पूर्वजों की पूँजी थी। क़ाज़ी दानियाल ने शेख़ साहब से जब न पढ़ने की स्थिति में दण्ड देने की धमकी दी, तो युवक अब्दुल क़ुद्दूस ने उत्तर दिया "दण्ड कल्याण का साधन है। आप विलम्ब किस कारण करते हैं ? नीरव स्थान पर जाकर योगाभ्यास करना और तपस्या में मग्न रहना शेख़ साहब की सहज प्रकृति का अभिन्न अंग बन गया था। तपस्या करते हुए कई-कई दिन व्यतीत हो जाते और भूख-प्यास का अहसास तक न होता। सोते समय की नमाज़ के बाद **नमाज़े माकूसा**[1] (उलटी नमाज़) पढ़ना नित्य

---

१. **योगियों के प्रभाव से सूफ़ी साधना में तपस्या की अनेक भारतीय पद्धतियाँ प्रचलित हो गई थीं। नमाज़े माकूसा एक ऐसी ही पद्धति है। इसमें साधक किसी निर्जन स्थान में पाँव में रस्सी बाँधकर किसी कुएँ में उलटा लटक जाता है और रात भर ख़ुदा की इबादत करता है। चिश्तिया शाखा के सूफ़ियों में यह तपस्या विधि बहुत लोकप्रिय थी। शेख़ अबू सईद अबुल ख़ैर (मृ० १०४९ ई०) के समय से यह तपस्या विधि सूफ़ी साधना का मुख्य अंग बन गई। ख़्वाजा बख़्तियार काकी, बाबा फ़रीद, शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया आदि इसमें गहरी आस्था रखते थे।**

का नियम था। ज़िक्र अथवा नाम स्मरण को तपस्या में विशेष स्थान प्राप्त था। शेख़ की दृष्टि में सूफ़ी के लिए प्राणायाम आवश्यक था।

ईमान और कुफ़्र को शेख़ साहब चित्त का गुण मानते थे। चित्त को परिष्कृत रखना ही साधना है। निर्धनता और फ़क़ीरी ईश्वर को प्रिय है। इनके माध्यम से उसकी प्राप्ति हो सकती है।[१] जो लोग ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं की ओर से विमुख हैं वे परम सत्य का अभिन्न अंग बन चुके है और वे ही सूफ़ी हैं।[२] नफ़्स अथवा अहं पर क़ाबू पा लेने के बाद उसे सुखाकर निष्प्राण कर देने की स्थिति में ही साधना साधक का कल्याण कर सकती है अन्यथा नहीं।[३]

शेख़ साहब को इस बात का बहुत दुःख था कि उनके समय में पीरी मुरीदी की बड़ी दुर्दशा हो रही है। अयोग्य,दुराचारी तथा विषयासक्त जन गुरु होने के दावेदार बन गये हैं। शेख़ साहब ने क़ाज़ी अब्दुर्रहमान सूफ़ी शाहाबादी को एक पत्र में लिखा कि जिस समय सद्गुरू का दिव्य सौन्दर्य सद् शिष्य के लिए परम सत्ता के सौन्दर्य का दर्पण बन जाय उस समय सच्चा शिष्य गुरु पूजक (शेख़-परस्त) बन जाता है। इसी कारण कहा जाता है कि गुरु पूजक शिष्य ईश्वर पूजक से श्रेष्ट होता है। इसका कारण यह है कि गुरु पूजक गुरु के माध्यम से परम सत्ता के दर्शन में तल्लीन रहता है और ईश्वर पूजक (खुदा परस्त) अपने निरीक्षण में खोया रहता है। अतः वह ईश्वर पूजक न होकर स्वयं-पूजक (खुद-परस्त) होता है।[४]

शेख़ साहब के इस पत्र के प्रकाश में सन्त साहित्य में उपलब्ध गुरु महिमा के प्रसंग का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट रूप से विदित हो जायेगा कि सूफ़ियों के मध्य यह विचारधारा कितना अधिक लोकप्रिय थी। तसव्वुफ़ के आविर्भाव काल से ही पीरे हक़ीक़ी अथवा सद्गुरु का प्रसंग सूफ़ी साहित्य में भरा पड़ा है।

शेख़ साहब का दृढ़ विश्वास था कि वे मुसलमान जो आलिम (शास्त्राचार्य) होने का दावा करते हैं उन्हें इसका भी पता नहीं है कि

---

१. शेख अब्दुल क़ुद्दूस गंगोही : मकतूबाते क़ुद्दूसिया, पत्र २५ पृ० ३५
२. वही, पत्र ६५, पृ० ९०-९१
३. वही, पत्र १०२, पृ० १८०
४. वही, पत्र ८३ पृ० १२५

मुसलमान किसे कहते हैं। जब तक अन्तःकरण को मुसलमान न बनाया जाय बाह्याडबरों को स्वीकार करके कोई किस प्रकार मुसलमान हो सकता है।[1] ध्यान देने की बात यह है कि कबीर और गुरु नानक को भी मुसलमानों से यही शिकायत है।

शेख़ साहब प्रेम को सृष्टि का मूल कारण एवं उसके स्थायित्व का मूल आधार मानते हैं। उनके निकट प्रेम साधारण सी वस्तु नहीं है। यह शरीर का रक्त निचोड़कर मनुष्य को जला-भुना डालता है[2]। प्रेम के क्षेत्र में पहुंचकर प्रेमी हल्लाज की भाँति **अनलहक़** और बायज़ीद की तरह **सुबहानी** का नारा लगाने लगता है।[3] कबीर भी प्रेम की गली में दो की गुंजाइश नहीं देखते और प्रेम में शरीर को जला डालने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता।

शेख़ साहब की दृष्टि में ईश्वर को देखने वाला ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। पत्थर के स्थान पर ईश्वर को देखने वाला खुदा परस्त है, ईमान वाला है। किन्तु पत्थर में मूर्ति को देखने वाला कामुक है और कुफ्र करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शेख़ साहब की विचारधार में सौम्यता है, उदारता है, समन्वयात्मकता है। चिश्तिया संप्रदाय के सूफ़ियों में यह गुण सामान्य और सुलभ हैं। पारस्परिक वैभिन्य होते हुए भी इस उदार दृष्टि ने इस देश की जनता को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँधा और जीने का हौसला प्रदान किया।

हिन्दी रचनाएँ : मूल्यांकन

शेख़ साहब हिन्दी में **अलखदास** उपनाम से कविता करते थे इसका उल्लेख किया जा चुका है। उनकी हिन्दी रचनाएँ उनकी दो महत्वपूर्ण कृतियों— **मकतूबाते-क़ुद्दूसिया** और **रुश्दनामा** में पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। यहाँ उन्हीं के प्रकाश में कुछ निष्कर्षों तक पहुंचना है।

हिन्दी में सन्त और सूफ़ी कवियों का मामला पूर्णतः गडमड होकर रह गया है। अमुक कवि सूफ़ी तथा सन्त नहीं था और अमुक कवि संत था सूफ़ी नहीं था यह किस आधार पर कहा जा सकता है? हुजवेरी ने सूफ़ियों

---

१. शेख़ अब्दुलक़ुद्दूस गंगोही : मकतूबाते क़ुद्दूसिया, पत्र १११, पृ० २०८
२. वही, पत्र ७२, पृ० १०१
३. वही पत्र ६४, पृ० ८९-९०

के १२ सम्प्रदायों का **कश्फ़ुल महजूब** नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है। हिन्दी का पाठक इन सम्प्रदायों के प्रति कोई रागात्मकता न होने के कारण इनके विस्तार में नहीं जाता। फिर किसी सूफ़ी कवि की विचारधारा किस संप्रदाय से प्रभावित है, इसका निर्णय लेना भी सम्भव नहीं है। इन बारह सम्प्रदायों के अतिरिक्त भी अनेक अन्य सम्प्रदायों का निर्माण हुआ। यहाँ इस बहस में पड़ना व्यर्थ है। बात सन्तों और सूफ़ियों की हो रही थी। सामान्यत: यह विचार व्यक्त किया गया है कि सूफ़ी मत में ईश्वर की भावना स्त्री रूप में की गई है जबकि सन्तों के यहाँ ईश्वर की भावना अद्‌वैतवाद से गृहीत पुरुष रूप भगवान् के रूप में हुई है। क्या इस आधार पर शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस के सूफ़ी होने पर सन्देह किया जा सकता है ?

कबीर को एक सन्त कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। प्रश्न यह है कि कबीर सूफ़ी क्यों नहीं थे ? तसव्वुफ़ से उनका क्या मतभेद है ? पैग़म्बर की अनेक हदीसों का रूपान्तर कबीर ने प्रस्तुत किया। **क़ुरआन** की अनेक आयतों की व्याख्या कबीर ने की। **वहदतुल वुजूद** और **हमाऊस्त** के दर्शन की व्याख्या कबीर करते रहे। कातिबे अज़ल की तहरीर पर कबीर का अटल विश्वास था। इश्क़ के मार्ग में समर्पण करने के कबीर क़ायल थे। मन को काबा और शरीर को करबला बनाने की हिदायत कबीर ने की। आध्यात्मिक युद्ध में प्राण गँवाकर हारने पर भी हरि के समान ज़िन्दएजावेद हो जाने का एलान कबीर ने किया। तलवार की धार जैसे सिराते-मुस्तक़ीम को अविचल व्यक्ति ही पार कर सकता है, इसका उल्लेख कबीर ने किया। मुल्ला दाऊदकृत **ऊँच बिरिख फरु लाग अकासा** वाली प्रतीकात्मक पंक्तियों को थोड़े से शब्दों के हेर-फेर के साथ कबीर ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। आख़िरत के दिन हिसाब-किताब की बात कबीर ने की।[1] फिर कबीर इतना सब करने पर भी सूफ़ी नहीं कहला सके। ऐसा क्यों है ?

शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस की हिन्दी रचनाएँ कबीर की ही भाँति प्रेम और ज्ञान की मिली जुली चाशनी प्रस्तुत करती हैं। चित्त नें जब ईश्वर प्रेम की अग्नि भड़क उठती है तो चारों दिशाओं में आग लग जाती है और शरीर

---

१. **कबीर के संदर्भ में देखिए मेरा शीघ्र प्रकाश्य ग्रंथ—हिन्दी के श्रेष्ठ मुसलमान कवि [कबीर, मुल्ला दाऊद, मलिक मुहम्मद जायसी]**

जल-जल कर ख़ाक हो जाता है। इस दशा में न तो किसी को पुकारा जा सकता है, न ही किसी से कुछ कहा जा सकता है—

जलते जलते जल गई जल भई उट्ठी आग।
कास पुकारूँ किस कहूँ चहूँ दिहि लग्गी आग ॥[१]

यह अग्नि जब शरीर को जलाकर क्षार कर देती है तो फिर इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ पाता। यह जो भी रंग है उसी को स्वीकार करके मर जाने में उसकी प्राप्ति होती है—

अगिनि छार पुनि रंग न होई।
जिहि रंग होइ ओट मर सोई ॥[२]

प्रियतम के बुलावे के लिए आत्मा विकल है और सिर को सूली पर रखने के लिए तत्पर है। वह किसी प्रकार भी पंख लगाकर उड़कर प्रियतम से मिल जाना चाहती है —

पंख लगातीं जे सतौं, सूली सिर पर लेवँ।
अंग छोड़ दिन आपने, उड़िकै पीहू मिलेवँ ॥[३]

शेख़ साहब के मन की आशा तृप्त हो जाती है और वे अपने स्वामी के प्रेम में सुध-बुध खोकर अपना हृदय उसे दे देते हैं। अपने अहं को कुचल-कर उन्हें अपने स्वामी के निकट बैठने का अवसर प्राप्त हो गया है—

होस खोइ दीनों हिरा, पूजी मन की आस।
हौं भी सीस कुंदालिकर बैठौं साईं पास ॥[४]

उस प्रियतम ने हृदय को अपने प्रेम की चोट से टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और विरही हृदय उसे सम्पूर्ण जगत् में खोज-खोज कर थक गया है—

नौ दुइ ढाल किया सो पिऊ। जग जग थाका मेरा जीऊ।[५]

---

१. मकतूबाते क़ुद्दूसिया, पत्र ७२, पृ० १०१
२. वही, पत्र १००, पृ० १६६-६७
३. वही, अलीगढ़ विश्वविद्यालय की पाण्डुलिपि, पत्र १८७, पृ० ६५०
४. वही, [प्रकाशित प्रति] पत्र १८८, पृ० ६५१
५. वही,

शेख़ साहब ने अपने युग की आस्थाओं पर बहुत शोक प्रकट किया है। कोई वाम पंथी है कोई दाएं मार्ग पर चलता है और कोई बाह्य वेश को ही उसकी वास्तविकता समझता है और जो सच्चा मार्ग है उस पर नहीं चलता—

गुंजरियाँ के बदगियाँ पहंखंडी हो पाँहृ ।
कोइ बाँवे कोइ दाहिने कोइ बेस भेट्याँह ॥[१]

स्थिति यह हो गई है कि पेट के चक्कर में ज्ञान बेचा जाने लगा है। शेख़ साहब की दृष्टि में यह ऐसा ही है जैसे रात अर्थात् अन्धकार को ग्रहण करके दिने अर्थात् प्रकाश को भुला दिया जाय—

रोटी साटी ज्ञान बिकाय । रात गहे दिन बीसर जाय ।[२]

सूफ़ियों के बीच हज़रत मुहम्मद की हदीस **संसार परलोक की खेती है** बहुत ही मान्य है। रुदौली का एक गैर मुस्लिम व्यक्ति एकेश्वरवाद में गहरी आस्था रखता था और मुसलमानों का आदर करता था। उसने एक बार ब्राह्मणों को भोजन का निमंत्रण दिया किन्तु मुसलमान फ़कीरों को नहीं बुलाया। शेख़ साहब को जब यह सूचना मिली तो उन्हें बहुत दुख हुआ। शेख़ साहब ने उस व्यक्ति को धिक्कार के योग्य ठहराया जो साईं अर्थात् फ़कीरों की ओर से यह सोचकर विमुख हो गया कि उनका कुटुम्ब बहुत बड़ा होता है। जो प्रिय स्वामी का तिरस्कार करके यह समझे कि उसने घोर तपस्या की है उसकी एक भी तपस्या उसके काम नहीं आयेगी—

भट बूड़ै बहि जाहि तौं, धिक जीवन तेरा ।
साईं तें तैं क्या फिरा, देख कुटुम्ब घनेरा ॥
एकौ काम न आव सबै जब परसै बेरा ।
छोड़ पियारा साइयाँ, तप्प जान्ह गहेरा ॥[३]

इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए शेख़ साहब अबोध आत्मा को संबोधित करके कहते हैं कि इस सांसारिक जलाशय से बाहर निकल कर परम सत्ता के समुद्र में अवगाहन कर। इस जलाशय में बेरी के घने वृक्ष लगे हुए हैं अथवा तेरे गम्भीर शत्रु हैं इसलिए इसे पहचानने का प्रयत्न कर—

---

१. मकतूबाते क़ुद्दूसिया पत्र १३०, पृ० २५४
२. रुश्दनामा [अलखबानी] पृ० ५७
३. वही पृ० ५१

अरी हंसरी बाल इस जलहरि गात पखाल।
इस तालरि को बूझ बाहर समुद सँभाल॥
अरी हंसरी बूझ बाहर समुद सँभाल।
इस तालरि बेरी घने मत कोइ मेलै जाल॥[1]

शेख़ साहब ने ईश्वर को अपने स्वामी और पति के रूप में स्वीकार किया है। प्रियतम ने वधू के ही कारण उसे आकृष्ट करने की दृष्टि से स्वयं को सौन्दर्यशील बनाया है। वधू का अस्तित्व ही कंत के अस्तित्व को बनाए हुए है। इसलिए वह सौन्दर्यशील प्रियतम वधू में उसी प्रकार क्रीडारत है जिस प्रकार सुगन्ध पुष्प में रहती है और उसे जीवन्त बनाये रखती है। इस प्रकार वास्तविक सत्ता के अभाव में लौकिक सत्ता अस्तित्व ग्रहण नहीं कर सकती।

धनि कारन पिय आप संवारा। बिनु धनि सखी कंत किनहारा।
शह खेलै धनि माँहीं एवाँ। बास फूल मंह आछे जेवाँ॥[2]

आगे शेख़ साहब कहते हैं कि मैं अपने प्रियतम के साथ क्यों न क्रीड़ा करूँ। मेरे ही कारण से उसने इतना कष्ट उठाया है। वस्तुत; वही वाक्य भी है और वही अर्थ भी है फिर उससे अभिन्नत्व क्यों न हो—

क्यों नहिं खेलूं तुझ संग मीता। मुझ कारन तें ईता कीता।
अलखदास आखै सुन लोई। सोई बाक अरथ फुन सोई॥[3]

केवलत्व के सिद्धान्त की व्याख्या में शेख़ साहब ने विशेष रुचि ली है। इस संसार में उस परम सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है। जिस ओर भी दृष्टि उठाई बस उसी के दर्शन हुए। इस तथ्य को शेख़ साहब ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

जिद्धर देखूं हे सखी तिद्धर और न कोइ।
देखा बूझ बिचार मैं सब ही आपुन सोइ॥[4]

जिस प्रकार बुलबुला रूपी घड़ा पानी में स्थिर रहता है और उसमें नहीं डूबता उसी प्रकार बूंद स्वरूप ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की जो सांसा-

१. रुश्दनामा [अलखबानी], पृ० ५१
२. वही, पृ० ७८
३. वही, पृ० ८९
४. वही, पृ० १३

रिकता के आवरण के कारण अपने मूल से नहीं मिल पाती। अंतरंग और बाहिरंग की कल्पना व्यर्थ है। दोनों ही परम सत्ता के अभिन्न अंग हैं। अनावृत और निरपेक्ष एक ही सत्ता है और उसका मात्र एक अस्तित्व है—

जैसो कुम्भ अम्ब महँ भेव। तैसो बुन्द बदी नरमेव ।।
बाहर भीतर कहा न जाय। सरब निरन्तर एकै काय ।।[1]

मानव चित्त की स्थिति पत्ती जैसी है और सत्य मालती का पुष्प है जो पत्तियों के बीच में विद्यमान है। रात दिन उसका स्मरण करने से ध्यानावस्था में साधक केवल ईश्वर की परम सत्ता की नितान्तता को देखता है और उसकी वास्तविकता का अनावरण करता है। उसे अमृत कुंड की प्राप्ति होती है और परम सत्ता के रहस्य उस पर प्रकट हो जाते हैं। उसे इस सत्य का बोध हो जाता है कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता पार्थिव और आलौकिक जगत् में नहीं है—

चित पाती सत मालति फूल। अहनिसि पूजा अछी अभूल।
पूज्यो अम्हिसर लाधव भेव। सरब निरन्तर आपै देव ।।[2]

जल, स्थल, पर्वत और आकाश, सर्वत्र वह परम सत्ता निवास करती है। उस परम सत्ता से विमुख होकर कहाँ जाया जा सकता है ? जिस स्थान पर भी जाइए वह उसी का स्थान है। उसे पृथक् अथवा प्रविष्ट कहना असम्भव है। अलखदास कहते हैं कि ईश्वर को कन्त रूप में प्राप्त कर लेने से दैवी रहस्यों की दीप्ति से चारों ओर रंग बिरंगे पुष्पों का मधुर हास्य बिखरा हुआ है और लोक तथा परलोक दोनों में ही वसन्त ऋतु आई हुई है—

जल थल म्हेल और आकास। पिय सरब निरन्तर तोरा बास ।।
तोहि छाड़ पिया कह कहाँ रे जावँ। जहाँ रे जावँ तहाँ तोरा ठावँ।
बाहर भीतर कहा न जाय। सरब निरन्तर एकै काय।
अलखदास आखै मोरा कन्त। दूनहु जग सखि रितू बसन्त ।।[3]

अपने कन्त और स्वामी के साथ अलखदास निःसंकोच भाव से होली खेलना चाहते हैं, हृदय से लगाकर उसकी बलैया लेने के उत्सुक हैं

---

१. रुश्दनामा [अलखबानी], पृ० १३
२. वही, पृ० १४
३. वही, पृ० १५

और गले में परस्पर बाहें डाल कर क्रीड़ा करने का निवेदन करते हैं—

जान अजान सभ खेलैं लोइ। बिन पिय खेल न खेला होइ ॥
जान अजान, जग खेली रे। हो हो हो हो होली रे।
सभ खेलैं सखि मन महँ जान। सरब निरन्तर पीय प्रबान ॥
जान अजान जग खेलैं फाग। कन्त बला लेउँ हिरदै लाग ॥
अलखदास आखै सुन नाहाँ। हम तुम खेलहिं दैगरबाहाँ ॥[1]

सृष्टि की रचना करने से पूर्व मुट्ठी भर ख़ाक से मानव को उत्पन्न करके जब उसे स्रष्टा ने यश प्रदान किया तो उसकी और परमात्मा की बातचीत हुई। ईश्वर की उस वाणी को सुनकर जीवात्मा आज तक लुभाई हुई है और प्रीति की इस लगन को एक क्षण के लिए भी छोड़ना नहीं चाहती—

अंजुलि गाँथ जो उत्पति दीनी। तब हम पिय सों बाचा कीनी।
हौं तिन्ह बोलन रहौं लुभाइ। लाग पीति खिन छोड़ि न जाइ।[2]

शेख़ साहब ने गोरखनाथ के अस्तित्व को परम सत्ता से पृथक् नहीं माना है। पृथक् मानने की स्थिति में दुई का भाव उत्पन्न होता है। जल, स्थल, पर्वत सर्वत्र केवल उसी एक की सत्ता है। फिर गोरखनाथ का पृथक् अस्तित्व किस प्रकार सम्भव है ?

अलखदास आखै सुन लोई। दुइ दुइ मत कहौ भाई कोई ॥
जल थल म्हेल सरब निरन्तर। गोरख नाथ अकेला सोई ॥[3]

सुगन्ध और पुष्प एक ही हैं। सुगन्ध वस्तुतः पुष्प का सार अथवा उसका अमूर्त्त रूप है और पुष्प में वह सार रूप प्रकट हुआ है। व्यक्त और अव्यक्त रूप एक ही हैं। इनके मध्य होने वाला परिवर्तन वास्तविक नहीं हैं—

एक अकेला साइयाँ दुइ दुइ कहौ न कोइ।
बास फूल हैं एक हो, कह क्यों दूजा होइ ॥[4]

---

१. रुश्दनामा [अलखबानी] पृ० १६
२. वही, पृ० २३
३. वही, पृ ३१
४. वही,

परम सत्ता में विलयन की स्थिति ही साधना के चरमोत्कर्ष की स्थिति है। इस प्रकार परम सत्ता की शाश्वतता साधक को अनन्त कर देती है। यह अमरत्व की स्थिति है। इसकी मिसाल ऐसी ही है जैस बून्द समुद्र में पड़कर समुद्र का अविभाज्य अंग बन जाती है—

हेरत हेरत हे सखी हौं धनि गई हिराय।
परया बूँद समुन्द मँह कह क्यों हेरी जाय॥[१]

कबीर की भाँति शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस भी जागते रहने का आदेश देते हैं जागते रहना ईश्वर का गुण है। क़ुरआन में **लाताखुज़ूहू सेन तुँवला नौम** अर्थात् अल्लाह को न नींद आती है और न ऊँघ, के माध्यम से उसके इसी गुण की ओर संकेत किया गया है। जो सुषुप्तावस्था में होता है वह नारी के समान है जिसे कोई चिन्ता नहीं होती और जो सदैव अन्धकार की निद्रा में मग्न होती है—

जाग रे भाई जाग रे जरम न सोवै कोय।
अहनिसि बेरी ओट ले मूसत बेर न होय॥
जागै गोरख जग सोवै सोवै अचिन्तीं नार।
सूने दनक जे बाहरौ ते जोगी अवधार॥[२]

शेख़ साहब की उपर्युक्त रचनाओ को सन्तों के काव्य के साथ यदि रखकर देखा जाय, तो सन्त और सूफ़ी काव्य के बीच सीमा रेखा खींचना असम्भव है। वस्तुतः इस प्रकार की रेखा खीचीं भी नहीं जा सकती। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी पाठकों के मस्तिष्क में अभी सूफ़ी काव्य का स्वरूप पूरी तरह साफ़ नहीं है, और यदि साफ़ है भी तो वे उसे व्यक्त करना नहीं चाहते। संभवतः अवचेतन मस्तिष्क में यह बात पड़ी हुई है कि जिस कवि में मुस्लिम संस्कारों की झलक मिलती है वह सूफ़ी है और जिस में वैष्णव पन की गन्ध आती है वह सन्त है। यदि ऐसा है, तो यह धारणा बड़ी ही घातक है। इस प्रसंग में पुनर्विचार की आवश्यकता है। शेख साहब की रचनाएँ इस तथ्य को समझने में महत्त्वपूर्ण योग देती है।

---

१. रुश्दनामा [अलखबानी] पृ० ३४। यह दोहरा कबीर की साखियों में भी थोड़े से परिवर्तन के साथ मिलता है [देखिए कबीर ग्रन्थावली, संम्रथाई कौ अंग, ६] किन्तु इसकी भाषा शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस की भाषा से भिन्न नहीं है। इसलिए मैं इसे शेख़ अब्दुल क़ुद्दूस कृत ही मानता हूँ।
२. वही. पृ० ४६। तुलना के लिए देखिए कबीर ग्रन्थावली, पद २३ तथा साखी ४/३६

शेख़ शाह मुहम्मद फ़रमली
'साहि'

४ शेख़ शाह मुहम्मद फ़रमली 'साहि'

शेख शाह मुहम्मद फ़रमली १६ वीं शताब्दी ई० के एक प्रतिभा संपन्न कवि हैं । हिन्दी के साहित्येतिहास ग्रन्थों में रीतिकाल अथवा शृङ्गार काल का आरम्भ १६४३ ई० से माना जाता है । किन्तु यह कोई ऐसी सीमा रेखा नहीं है जो अकाट्य हो । वस्तुत: दरबार अथवा किसी भी आश्रयदाता विशेष से सम्बद्ध कवियों के काव्य में शृङ्गार परक प्रवृत्तियाँ १६ वीं शताब्दी में ही पूर्ण रूप से उभर कर आ गई थीं और शृङ्गार सम्बन्धी मुक्तकों को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी । मेरी दृष्टि में रीतिकाल को यदि इसी रूप में स्वीकार करना है तो इसे केशव दास से प्रारम्भ करना ही समीचीन है । संवत् १६५० के बाद भक्ति साहित्य की समृद्धि क्षीण हो गयी थी और शृङ्गार काव्य की कान्ति से हिन्दी जगत् आलोकित हो चुका था । केशवदास, सम्राट् अकबर, बीरबल, फैज़ी आदि की रचनाएँ शृङ्गार काल की पूरी भाव भूमि तैयार कर चुकी थीं । शेख़शाह मुहम्मद फ़रमली भी १६ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में शृङ्गार काव्य की समृद्धि में योग देने वाले कवियों में से एक हैं ।

परिचय

शेख़ साहब के जन्म संवत् का पता नहीं चलता किन्तु मीर आज़ाद बिलग्रामी के **सर्वआजाद** नामक संदर्भ ग्रन्थ से इतनी सूचना मिलती है कि वे

सम्राट् अकबर के युग में विद्यमान थे और सम्राट् के विश्वास पात्रों में थे। वे एक धनाढ्य और अधिकार सम्पन्न व्यक्ति थे और अहसार की हुकूमत में रहते थे। उनके पिता का नाम शेख़ मारुफ़ था और वे बिलग्राम ज़िला हरदोई के फ़रमली शैख़ों की शाखा से सम्बन्ध रखते थे।[१] आगे चलकर आज़ाद ने जहाँ यह सूचना दी है कि एक दिन रपरी चन्दवार नामक स्थान पर वे अपनी सेना के साथ शिकार खेलने निकले, यह ध्वनित होता है कि वे सम्राट् अकबर की सेना में किसी बड़े पद पर थे[२] और शिकार में विशेष रुचि रखते थे।

शिकार खेलते हुए वे एक बार अपने साथियों से बिछुड़ गये और भटकते-भटकते एक देहात में पहुँच गये। वहाँ शेख़ साहब ने एक रमणी को गोबर पाथते देखा। रसिक थे ही। उस रमणी के सौन्दर्य में कुछ ऐसा आकर्षण था कि वे उस पर आसक्त हो गये। रमणी का नाम चम्पा था और वह बड़ी ही वाक्पटु थी। उसकी कलाई में कंगन था जिसे उसने काले रेशम से अलंकृत किया था। शेख़ साहब को छेड़-छाड़ की सूझी और उन्होंने उसे सबोधित करके कहा——

क्या कहना! कमल पर भौंरा बैठा हुआ है। चंपा ने टूटी हुई भाषा में उत्तर दिया कि यह भौंरा नहीं गोबरौन्दा (गोबर में उत्पन्न होने वाला काला कीड़ा) है। शेख़ साहब इस उत्तर से बहुत प्रभावित हुए और उसे अपने साथ घोड़े पर बिठाकर घर ले गये। वहाँ उसे उपयुक्त शिक्षा दी और उसे हिन्दी काव्य रचना की ओर प्रेरित किया। चम्पा की हिन्दी रचनाएँ शेख़ साहब की रचनाओं से भी अधिक उत्कृष्ट होने लगीं। दोनों के बीच इतना गहरा प्रेम था कि इनकी प्रेम कथाएँ दूर-दूर तक प्रसिद्ध हुईं।[३]

---

१. मीर गुलाम अली आज़ाद, सर्वे आज़ाद भाग २, लाहौर १९१३ ई०, पृ० ३५२

२ वही,

३. चम्पा हिन्दी की एक प्रतिभा सम्पन्न कवयित्री थी। उसने विरह शतं नामक एक ग्रन्थ की भी रचना की थी। जिसे अगर चन्द नाहटा ने सम्पादित करके [हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ वीथिका, आगरा सन् १९५६ ई० भाग १, पृ० १४७-१५४] प्रकाशित किया। चम्पा शेख साहब को 'साह' शब्द से सम्बोधित करती थी। इस ग्रन्थ में यह सम्बोधन अनेक दोहों

जीवन के अन्तिम दिनों में शेख़ साहब अफ़ीम का सेवन अधिक मात्रा में करने लगे थे। उन्होंने कन्नौज में स्थायी निवास ग्रहण कर लिया था और वहीं उनका निधन भी हुआ।

उपनाम तथा हिन्दी रचनाएँ

शेख़ साहब की हिन्दी रचनाओं का प्रथम उल्लेख **सर्वेआज़ाद** में मिलता है। मीर आज़ाद के अनुसार शेख़ साहब हिन्दी काव्य रचना में सिद्ध-हस्त थे और अपने युग के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते थे। उनके समयुगीन हिन्दी कवियों ने उनका आचार्यत्व स्वीकार कर लिया था और उनकी रचनाओं का बहुत सम्मान करते थे।[1]

मीर आज़ाद ने शेख़ साहब के उपनाम का कोई उल्लेख नहीं किया है। उनकी कविता के उदाहरण स्वरूप केवल ९ दोहे उद्धृत किये हैं। मीर आजाद के विवरण में शेख साहब द्वारा रचित किसी काव्य-ग्रन्थ का नामो-ल्लेख भी नहीं हुआ है। रचनाओं के जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि शेख साहब **साहि** उपनाम से कविता करते थे।

अगर चन्द नाहटा के प्रयत्नों से शेख़ साहब के एक काव्य-ग्रन्थ **सिंगार सतक** का पता चला है। नाहटा जी ने इसे १९५६ ई० में **हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ-वीथिका** के भाग १ में प्रकाशित किया है। मुझे इस ग्रन्थ की एक प्रति हैदराबाद में हादी बिलग्रामी के निजी संग्रहालय से प्राप्त हुई है जिसका अन्तिम अंश बिल्कुल अस्पष्ट है। नाहटा जी ने शेख़शाह मुहम्मद का रचनाकाल सन् १५३० से १५४० ई० के लगभग होने की संभावना प्रकट की है। मीर आज़ाद की सूचना के अनुसार शेख़ साहब सम्राट् अकबर के युग के कवि थे और सम्राट् के विश्वास पात्रों में से थे। स्पष्ट है कि सम्राट् अकबर का जन्म सन् १५४२ ई० में हुआ था और उसका शासन काल १५५६ से १६०५ ई० तक माना जाता है। ऐसी स्थिति में सन् १५५६ ई० से पूर्व

में मिलता है। प्रतीत होता है कि शेख़ साहब कुछ लम्बे समय के लिए चम्पा को छोड़कर कहीं चले गये थे। चम्पाकृत विरह शतं इसी विरह जन्य स्थिति का संकेत करता है। चम्पा शेख़ साहब की संभवतः दूसरी पत्नी थी। शेख़ साहब ओर चम्पा की रचनाओं में सौत का उल्लेख मिलता है।

१. सर्वे आजाद, भाग २, पृ० ३५५

तो शेख़ साहब का रचनाकाल संभव ही नहीं है। शेख़ साहब की रचनाएँ चम्पा से संपर्क स्थापित होने के बाद की ही हैं। इसलिए १६ वीं शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्द्ध ही शेख़ साहब का रचना काल हो सकता है।

मीर गुलाम अली आज़ाद ने शेख़ साहब के जो दोहे उद्धृत किये हैं उनमें से तीन नाहटा जी की प्रति में [दोहा सं० ६,२४ और ३०] तथा सात हैदाराबाद वाली प्रति में मिलते हैं। हैदराबाद की प्रति फ़ारसी लिपि में है और लगभग ढाई सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। दोनों प्रतियों के पाठ में भी थोड़ा बहुत अन्तर मिलता है। इन प्रतियों का मिलान करने पर कुल दोहों की सख्या १०८ होती है। अनुमामानतः इस ग्रन्थ की रचना सन् १५७०-८० के आस-पास हुई प्रती होतीत है। ग्रन्थकार ने कहीं भी रचना-काल का संकेत नहीं किया है।

सिंगार सतक का प्रारम्भ **करतार** की स्तुति से होता है। ध्यान देने की बात यह है कि कवि उस **करतार** के लिए **'ओमनमो'** शब्द का प्रयोग करता है। इस प्रकार अपने मुसलमान होने के साथ-साथ भारतीय होने का भी संकेत कर देता है। वह स्रष्टा प्रेम रूप है और जगत् का उद्धार करने वाला तथा दया सिंधु है। प्राणियों को उससे ज़िन्दगी और ताज़गी मिलती है—

ओम् नमो त्रैलोक्यमय प्रानाकर करतार।
पेम रूप उद्धरन जग दयासिंधु भरतार।।

वह ईश्वर सम्पूर्ण लोक में अकेला स्वामी है। वह सचेतावस्था में रात-दिन जागता रहता है। उसने प्रेम का डंका बजाकर बड़ी ही लगन के साथ हज़रत मुहम्मद की रचना की—

इक्कल रे पति लोक विय सचेव अहीनिसि जग्गि।
आडम्बर रचि पेम कौ रच्यो मुहम्मद लग्गि।।

सिंगार सतक का मुख्य विषय शिख-नख वर्णन है। श्रृङ्गार काल के अधिकांश कवियों ने वस्तुपरक वर्णन को केवल परम्परा मुक्त नख-शिख वर्णन तक ही सीमित रखा है। संस्कृत तथा प्राकृत का लगभग संपूर्ण साहित्य रूप राग से भरा पड़ा है। हिन्दी में रूप वर्णन की परम्परा सीधे संस्कृत से आई है। भक्तिकालीन कवियों ने सौन्दर्यानुभूति के आध्यात्मिक पक्ष का रूपांकन किया

किन्तु श्रृङ्गार काल में आध्यात्मिकता का स्थान भौतिक सौन्दर्यबोध ने ग्रहण कर लिया। फलस्वरूप राधा और कृष्ण के शरीर से वैष्णव आवरण उतार कर लोक आवरण से अलंकृत किया गया। दूसरे शब्दों में श्रृङ्गारकालीन कवियों ने राधा और कृष्ण को धार्मिक क्षेत्र से निकालकर राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया और उनका सामान्यीकरण किया। शेख़ साहब की नायिका राधा न होकर चम्पा है। किन्तु चम्पा और राधा में श्रृङ्गारकालीन कवि के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। चम्पा के शिख-नख का चित्रण करके शेख़ साहब ने श्रृङ्गारकालीन कवियों से पृथक् अपना मार्ग बनाने का प्रयत्न किया है। यह रूप वर्णन सामान्य अथवा काल्पनिक नायिका का नहीं अपनी प्रेयसी का है जिसमें रोमांटिक दृष्टि की झलक मिलती है। इसमें हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की धूमिल रेखाएँ देखी जा सकती हैं।

चम्पा के रत्नदीप के समान जगमगाते हुए मुख की ज्योति से आकृष्ट होकर शाह साहब का पतिंगा रूपी मन उसके इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। यह देखकर षठ सौत जल भुन कर मर-मर जाती है—

मन पतंग फिरि फिरि परै चंपा रूप तुव जोति।
रतन दीप मुख जगमगै फूकि मरहि सठ सोति॥

शाह की चम्पा से जो प्रीति है वह अकारण नहीं है। चम्पा कामदेव की साक्षात मूर्ति है, उसके सकल शरीर की तरुणाइ सौभाग्यशाली तरु के समान है और उसका सुवर्ण स्वर्ण के समान निर्मल है—

हित पिरीति सहि जू चंपा मूरति चंपा अनंग।
तरु सुहाग तरुना सकल कंचन चंपा सुरंग॥

नख-शिख विषयक हिन्दी के ग्रन्थों की परम्परा में रखकर देखने पर यह बात कही जा सकती है कि यह वर्णन शैली बिलग्रामी कवियों का हिस्सा है। मुबारक बिलग्रामीकृत **अलक शतक** तथा रसलीनकृत **अंग दर्पण** इस परम्परा की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

शाह साहब की रचनाओं में अप्रस्तुत योजना भावानुगामिनी भी है और चमत्कार जन्य भी। किन्तु दोनों ही स्थितियों में भावों का उत्कर्ष बना हुआ है। परम्परागत उपमानों में भी संयोजना कौशल के फलस्वरूप सजीवता

और ताज़गी है। प्रतिपाद्य के अनुकूल मधुर प्रभाव व्यंजकता उसके कलात्मक सौन्दर्य को सुरक्षित रखती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मृगनैनी मृगराज कटि मृगबाहन मुख जाहि।
मृग अंगी मृगमद तिलक मृग रीझत सुरताहि॥

यहाँ सम्पूर्ण रूप छवि एकदम से उभरकर प्रत्यक्ष हो गई है।

शाह साहब एक आशु कवि थे और यही प्रतिभा उनकी पत्नी चम्पा में भी थी। फलस्वरूप स्थिति यहाँ तक पहुँचती थी कि कविता ही दोनों की बातचीत का माध्यम बन जाती थी। एक दिन शाह और चम्पा किसी दरिया के किनारे बैठे हुए थे। शाह ने चंपा से कहा—

धूम जो उठत तरंग मों यह अचरज मम आह।

चम्पा ने सहज भाव से उत्तर देते हुए दोहे के द्वितीय चरण की पूर्ति कर दी—

अनल रूप कोउ कामिनी मज्जन करि गई साह॥

एक अन्य अवसर पर शाह ने चम्पा की ओर देखा और जुगुनुओं की ओर संकेत करके कहा—

स्याम रैन में कीठ, उड़ें चमक्कनि कोटि दिसि।

चंपा ने उत्तर में द्विवतीय चरण की पूर्ति की—

मनमथ बारी दीठ, बिन पिय तिय खोजत फिरै॥

एक बार जब शाह यात्रा से लौटकर घर पहुँचे तो चम्पा के दृगों को सजल देखकर उससे बोले—

किम दृग ढरी सुनार, मम आयो भायो नहीं।

चम्पा ने उत्तर में सोरठे के द्वितीय चरण की पूर्ति कर दी—

लीन्हें नैन पखार, मिलन हुती तुव दरस बिन॥

शाह ने चम्पा से एक दोहा लिखकर अफ़ीम भेजने का निवेदन किया। दोहा इस प्रकार है—

जल थंभन बैराग रिपु हारी बाहन सोइ।
चंपा दई प्रहटाय यह जोरि तिहारी होइ॥

चम्पा अफ़ीम से घृणा करती थी। उसने अफ़ीम भेज दी साथ में यह दोहा भी लिखकर भेजा—

> रूप गँवावन जग हसन तेजो काम को खाद।
> हौं तुहि पूछौं साह यह कहाँ बसाही ब्याद ॥[1]

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हिन्दी भाषा और काव्य का शाह साहब से चोली दामन का साथ था। कवि के घर का वातावरण विशुद्ध साहित्यिक वातावरण था। धर्म और सम्प्रदाय से जुड़े हुए हिन्दी काव्य को शाह मुहम्मद ने स्वतन्त्र साहित्यिक धरातल प्रदान करने का प्रयत्न किया। अन्त में शाह मुहम्मद कृत **सिंगार सतक** का नाहटा और हैदराबाद की प्रतियों के आधार पर एक शुद्ध पाठ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

सिंगार सतक

ओम् नमो त्रैलोक्य मय प्रानाकर करतार।
पेम रूप उद्धरन जग दयासिंधु भरतार ॥१॥
इक्कल रे पति लोक विय सचेव अही निसि जग्गि।
आडंबर रचि पेम कौ रच्यो मुहम्मद लग्गि ॥२॥
सिंगारहि प्रभु सज्जि करि बेगहि होइ सिंगार।
मोह न होइ रंजहि सकल रहै न बुद्धि बिचार ॥३॥
पति सिर ताज सिंगार रस अष्ट महानद आहि।
भाव तरंग समान सब नव रस रंजन साहि ॥४॥
रस आगम निव्वावस रस रस लंघित तिय काल।
तिनही मह सुख उप्पजै रत्ता विरत जंजाल ॥५॥
पेम उदधि तिय निद्धलगि किय मत्थन मनमत्थ।
पेम जार संसार पर बिस्तार्यौ नर नत्थ ॥६॥
मथ्यौ जु चौदह रतन लगि ते तिय तन सब आहि।
मूरख देवज पित्त जन उदधि बिगारयौ साहि ॥७॥

---

१. शाह और चम्पा की प्रस्तुत बातचीत सर्व आजाद [पृ० ३५४-५५] के आधार पर दी गई है।

पुहंवी रतन ज उप्पज्यौ भयौ न सुरनर गोत।
पटतर देखन तौ बनै रति अनंग सुत होत ॥८॥
अलिमाला बल्लिन गई अहि कुल दुरै पतार।
मृग करनन मद कौ छुअै बरन पास तुव बार ॥९॥

स्याम कुटिल चित्ताह डसन परतषि विषधर आहि।
मंत्र कहूं जौ हसि पटत करह गहत कच साहि ॥१०॥
सूरति श्रमजल उप्पजै बूंद रही लट अंत।
शिव लिलाट पैं तृपति भें अहि मुषि अमी चुवंति ॥११॥
घट पाटी लट उन्ह है छट बिज्जुल मुसकंति।
बूंदज श्रमजल बदन थैं बिपरीतहि बरषंति ॥१२॥
श्रमजल बूंद ज चून भौ अलक बनी फंदवारि।
चित पर बीच रचत फंधिउ सकइव कौ निरवारि ॥१३॥
पेम अखेटक करन लगि राग परत्रिय दीन्ह।
अलका वरि बावरि रची मो मन मृगधर लीन्ह ॥१४॥
कच झारत तम बित्थरिउ गयौ सुरवि दधि माहि।
अति भजु बंछति दरस मुख भइ संध्या कत जाहि ॥१५॥
कच बूटे तिय सीस पर पुहप रहे सोभंत।
देखि अनंगौ खिसि गयौ मानहु तिमिर हसंत ॥१६॥

कच छूटी तिय सीस सों बिबकच रही उतंग।
मानहु कंचन कलस तें अमृत पिवत भुवंग ॥१७॥
आतंकै उर उर नयर नैन सजै तिन्ह डंड।
को जानै किहि पर तन्यौ चढ़ै जु भौंह को बंड ॥१८॥
राम पत्थ कर करन तब सोइ को बंड भुव तास।
त्यौरी तरुन जि तानियौ सरफुट्टति हिय कास ॥१९॥

प्रीतम कोटी चाप भुव नैन धरे धज साहि।
अर्द्ध दृष्टि उर मैं तनत मरल गात चष ताहि ॥२०॥

नैन भालि को बंड भुव अगधरे कुच सूर।
प्रवन जु धावत बदन तन दिख फट्टत मृग कूर ॥२१॥
परिमल चढ़िढउ चित्त धरि खेयौ मदन प्रधान।
जगत्तरै या मुत्तिमय दृष्टि चुकी नहि बान ॥२२॥

क्षुद्रावलि घंटिक मनौ नैन दीप उद्योत ।
हस तिय घूंघट तम करत कोटि जीउ बध होत ।।२३।।
भौंह धनुष धरि दृष्ट सरि दया भई तानंत ।
कटाछ भाल उर मैं गडी जतन न कछु मानंत ।।२४।।

मृगनैनी मृगराज कटि मृगबाहन मुष जाहि ।
मृगअंगी मृग मद तिलक मृग रीझति सुर ताहि ।।२५।।
मृग कदंब काननि गहै कमल मीन जल मांहि ।
खंजन अंजन दैत दुरि जाहि खिसवि नैनाहि ।।२६।।
अरुण सलज्ज उत्तंग पल करना इत औरेह ।
निर्मल सेत जु कज्जलै लोइन परिमित एह ।।२७।

नैन दीप जगमगन मुख जोति रही तन दौरी ।
कज्जल सोइ सीसव हरिउ पल भुव कुंतल गौरि ।।२८।।
लोचन बानत पान दिय तनत मरत तिहकाल ।
बंधति कज्जल विक्खधर मुक्कति के कह हाल ।।२९।।

चहु दिसि दिक्खत नहिं मिलत जिउ लेगौ बस ऐन ।
स्रवननि सुंवमतौ करत कहा करैं दुहु नैन ।।३०।।

तुअ मुख पानिप अमिय निधि देखत नेत न गात ।
नयन बिचित्र अगस्त बिबि पीवत हूंन न अघात ।।३१।।
छबि दुति बरनत नहि बनै पानिप उदधि समान ।
नैन किलकिला होइ झपहि रूप गहै परिमान ।।३२।।
रूप चाँदिनी तन गह्यौ हस्यौ बिरह तम जोर ।
अमिय किरन ससि बदन की पीवत नयन चकोर ।।३३।।

अतुन सलज्ज उतंग फल करना इत अवरेह ।
विमल सेत सोइ कज्जलै लोइन परमित एह ।।३४।।
मुख संपुट कुंदन बरन जिहिं दिक्खत मुनि बग्गि ।
भरय्यौ जु मन कामनि रतन पिय जन रंकन लग्गि ।।३५।।

स्रमजल बुंद मुख चंद परि हसि जु लेत पिय नाम ।
लोचन मध्य जु भस्म करि खींचि जु आवत काम ।।३६।।
हारावलि पैन्हौ जतन सोभित मुतियन फंद ।
बदन बीच हम देखियत ज्युं पावस बिच चंद ।।३७।।

तिन तोरहु राहुन गहै तिय घूंघट करि टंक।
बदन सुधाकर सरद कौ मृग मद आउ कलंक ।।३८।।
पुहुप तराइन चहर निसि, मांग नग्ग गज राहि।
बदन चन्द दिन देखियत, इमकर भूलो साहि ।।३९।।
चंपा बरन तुअ देखिकै चंपा सत्तु तरु डार।
कंचन समसर होन लगि दिनहु सहन तन झार ।।४०।।
बदन चंपिका चंद सम भूल्यौ भय मति चित्त।
उह बंदै जगि दुइज दिनि इह पति बंदै नित्त ।।४१।।
मन पतंग फिरि फिरि परै चंपा रूप तुअ जोति।
रतन दीप मुख जगमगै फूकि मरहि सुठि सोति ।।४२।।
हित पिरीति सहि जु चंपा मूरति चंपा अनंग।
तरु सुहाग तरुना सकल कंचन चंपा सुरंग ।।४३।।
कवि पटतर है मयंक सम आनन चंपा सु काई।
निःकलंक जलि लाट पर सोठ लगत तिय पाई ।।४४ ।।
खंडित अधर जु दरपनहि निरखि लई तिय सोक।
मुख कुंदन जन जरिय पिय चूनि रहीं जिन पीक ।।४५।।
बचन पान कछु कर गहे बोलति सीथल बैन।
मकरंद लयो कमल्ल जिमि देखहु सखि ए नैन ।।४६।।
ग्रहै जु नवरस साखि धरि अर्द्ध प्रीति रंग जाहि।
चंप बदन दुजराज कर संकल्पौ जिउ साहि ।।४७।।
साहिब संचौ दैन रचि शशि के तेजत आज।
हेम पेम कुंदन करति मूरति भरीअ चंपाजु ।।४८।।
नयन अवटि साचौ कियौ पचि तरु चिति बिधि आह।
हिमकर हिम हिम कटित भरि मूरति चंपा जुसाह ।।४९।।
कीर चंच रत्तिय कुटिल सहज धर्म अनुकूल।
सास पिमुक्कति नासिका बरनत बनत न मूल ।।५०।।
पल सकुचति पल उस्सति मधुप पुहप पर होइ।
मुत्तिय मुकुट जु इक्क पुर त्रिपुर बिराजत सोइ ।।५१।।
तिल बंकुटि भृकुटी भिलन सो सोभा जिय जाग।
अधर धनुक मनु निरखि कै पांक पसारत काग ।।५२।।

कहु फूली सुख तिन्ह रवा कबहु बिराजत नत्थ ।
बिनह अलंकृत सोहिबौ छबि बरनन अकयत्थ ।।५३ ।।
कहां बधू बिद्रुम कवल कहँ मानिक कहँ लाल ।
सुरत अंत कहतन बनहि सोहत अधर गुलाल ।।५४।।
अधर सुरंग कुरंग भै नैन कुरंग सुरंग ।
करै जु रंगति रंग तन रहै न अंग सुचंग ।।५५।।
नयन जु आए रतन हुइ सुमिर न बड दुख दीन्ह ।
अधर पिंड पर मौषधी बरन व्यथा हरि लीन्ह ।।५६।।
क्यों कटाक्ष सोभित तरुनि फिर चितवनि मुसकंति ।
मुद्रित अलि क्षुद्रति मनौ भौर कवल विकसंति ।।५७।।
बल्लम तुह अनभौं रह्यौ गए लच्छिनहि चिन्ह ।
पेम पियासे अधर मधु कथा पुव्वकौ लिन्ह ।।५८।।
दिव्य कवल मुख बास लगि लए दसन अलि ताहि ।
सुत्तिय जन बंधन भरे सोभित चौंका साहि ।।५९।।
अलि चंदनि हीरा धरनि गगन बीजु दधिमोति ।
दारिम मुख मुद्रित रहति देखि दसन की जोति ।।६०।।
मेटि मेटि बिध बिध सचित तुव मुख उपमा लग्ग ।
जग बीते निहचित सँचित भयो न सुक्ख समग्ग ।।६१।।
कूप चिबुक मो मन परयौ त्रिषा अधर जल आस ।
कुंतल कंटक कुटिल परि कर करि कट्टति तास ।।६२।।
मनु तुअ पेमहि गहि रम्यौ नयन धरत आकास ।
कूप चिबुक पर बावरे पुनि निकसन को आस ।।६३।।
बदन सरोवर मदन जल जुब्बन लहरी लेत ।
नैन पियासे दरस के घूंघट घाट न देत ।।६४।।
कह पायो कंठ मोर पिक कह कपोत कि कान ।
चलिति जु नारि फणिंद गति बरनत बनै न बान ।।६५।।
मद जुब्बन कुच कुंभ दुइ गर्बति तीअ मतंग ।
अर्द्ध मयंक लिलाट पर अंकुश गह्यो अनंग ।।६६।।
पन्नग पंकज मुखि गहै बिषं जनतिहां दिट्ठ ।
उर सिंहासन साजि करि साहिब साहिब इठ्ठ ।।६७।।

चक्रवाक कुच हृदौ सर मुषतिन्ह जटित सुघाट।
तहां फुलित भई कुमुदिनी देखत चंद ललाट ।।६८।।
उर सर परि कुच कमल दोउ मुद्रित अंचल काम।
गड़े जु सौरभ नयन अलि मति कलपै मोर स्याम ।।६९ ।।
संधि बहिक्रम जानि करि साहि कुचह क्या कीन्ह।
देखत आवत जुब्बनहि उठिकै आदर दीन्ह ।।७०।।
लाज सरित थाहक मदन सकुच महत कटिबंधि।
कुच तूं या हिय रक्खि करि धसी वहिक्रम संधि ।।७१।।
प्रीतम अंबर मांहि रहु कुच अंतर तन सत्थ।
निसि बासर उद्योततन हरण करण मोहत्थ ।।७२।।
अरबराहि जुब्बन समै भए जु सिहँ उतंग।
हृदौ ठलायौ पीय कहु छैहर बरे अनंग ।।७३।।
तिह पुरंद बस केलि करि राशि करी मन मत्थ।
ता निमित्त कुच संमुहे पुहवि पसारत हत्थ ।।७४।।
मंडलीक कुच अबल बल उद्यत कठिन सगर्व।
स्याम छत्र सिरि चक्रवति कर दाइक जन सर्व ।।७५।।
न्याय पयोहर चक्रवति कुंदन श्रीफल आहि।
दिग मंडल कर जे ग्रहत ते करदै तव साहि ।।७६।।
भरे जु कुंदन कलस कुच कुंदकरन नखि कुंद।
जुब्बन मद गुन गब्बं करि मुखज मैन मसि बुंद ।।७७।।
चित्त हरन कंचन बरन सिहुन रचे जगदीस।
दृष्टि निवारण कर परस मसि कज्जल दिय सीस ।।७८।।
जुब्बन समै जु कंचुकी कुच हैं दोउ उतंग।
सिद जित्तान कहु गूडरा मानहु उए अनंग ।।७९।।
उब्भलता कर जोरि कंइ कुच उन्नत कटि सुद्ध।
मदन महाजल उम्मटिउ घाघ निहारति सुद्ध ।।८०।।
तोरत अंग अनंग कुच तापर परीं जु दिट्ठ ।।८१ ।
अति उतकंठा पुत्तरी ऊछटि सीस बइट्ठ ।।८१।।
भृंगी कुल जनितंबयर केहरि लंक जुसाहि।
सौतिनि गब्ब गयंद जिमि भुंजत सौरभ साहि ।।८२।।

धूप सिखा रामावली सिव कुच अक्षत फूल।
इह तप क्रम पायौ जु फल साहिब पति अनुकूल ।।८३।।

पिय भेटत धर वलय वद चंदन रहत न अंग।
हित तौ कुंतल अधर कुंच पीर सहत मोर संग ।।८४।।

मज्जन राम सुगंध तन अभरन बनै अनूप।
पान बदन छवि देखि मुनि चेतुप मुक्कहि रूप ।।८५।।

मुकुलित भूषन कुच कसन मउ लित बलय भिराम।
दंपति मदन बिरच्चिये थकवे सुरति संग्राम ।।८६।।

बिभ्रम हलि मिलि थकित तन दोउ निद्रा बिकरार।
प्रीत गमन भुज फंद फंदे अरुझे बारह बार ।।८७।।

निसि बिभ्रम पुहपित नखत परमल भिन्नित अंग।
लोचन निद्रा सिथिल हित गहत परस पर संग ।।८८।।

निद्रा नयन बिलास गय धूपित दीपग नार।
सीरक मोतिन्हि पुलक तन फीकौ बदन उगार ।।८९।।

दोऊ भावत अति पेम रत सकुच पमुक्कि मिलेजु।
सुरत अंत नयननु मिलहि दुरि मुसकात भलेजु ।।९०।।

स्रम थक्के अंकम सिथिल हेतत होत बिमौन।
हौं जानत पिय आनि है रूसन बदि उव कौन ।।९१ ।।

भावत सुरत बियाम करि मिलति उप्पजति सास।
दुहु तन आउस साधि जन जीय तै इक्कहि आस ।।९२।।

कंकण पिठ्ठिहि देखियत कंठ बिना गुनहार।
नौ अरबिंदज इक्क कर कर तव कौन बिचार ।।९३।।

रे बलि तू जिन बिस गहहि मोचिहि नाही और।
जिम कसल्ल छबि पुत्तली तिम हिय और न ठौर ।।९४।।

कमल निरखति कमल गहि कमल मिलहि न अघाइ।
द्वादस कमलहि इक्क हुइ कमल-कमल नहि जाइ ।।९५।।

कमल नयन जिनि रदिन करि पुंजु त्रिभेष धराहि।
बरनि मुत्ति गुज कुंवदन परत नीर हुइ जाहि ।।९६।।

नयन सीपि छबि स्वाति जलें पीवत पलक पसारि।
पिय मुत्ताहल चाहियत हसति झुकावति नारि ।।९७।।

पिय पगि लागि मनाउ तूं मिलुपहि पच्छिम जाम।
नहिं अक्षर बिपरीत कर माननि मुक्कहि मान ॥६८॥
कत प्रानन सूं रूस करि जिउ छिज्जै किहि काज।
रूसति रमणि मनाइयै उषभ खात किह लाज ॥६६॥
चंचल तिरख निचित्त बिबि मन लोयन जु कहंत।
तूअ मूरति देखन हलगि ठौरहि ठौर उगंत ॥१००॥
सगनस पानिप दब्ब बहु कर अंगुल जु धरंति।
रे मुक्ताहल निलज तिय हंसि हंसि गुंज करंति ॥१०१॥
कंकन पीठहि देखियत कंठ बिना गुन हार।
नौ अरबिंदु जु इक्कठा करतब कौन बिचार ॥१०२॥
अक्षर मुत्ताहल रच्यौ गुन गुंथि रक्खो पांति।
दूभर मानौ दोहरौ हिय संपुट इहि भांति ॥१०३॥
मुत्तिय गुन हिरदौ सकति सुकृत पीठ कमंठ।
मध्य लाल कौ नाम गुन कंठ माल मम कंठ ॥१०४॥
नयन चतुर मूरति चंपा पल पल दुतिज धरंति।
जनु दुतिया के चंद जिमि दिनि दिनि कला चढंति ॥१०५॥
मुरि वैठति पन्नगह जिम कसत अनंग न जीय।
मानुज विष नष सिष चरिउ मंत्र न मानति तीय ॥१०६॥
इन्ह नैनन पह रसन नहि रसन नैन नहु आहि।
चित्त हरत चेटक बदन रूप कहां कहं साहि ॥१०७॥
उर समुद्द मथि ज्ञानवर काढ़े सात रतन्न।
पेम हेम कुंदन करत जुरे जुतिन्न रतन्न ॥१०८॥

————

सैयद गुलाम मुहम्मद
'रसखान'

५

सैयद ग़ुलाम मुहम्मद 'रसखान'

सूर, तुलसी और मीरा के बाद हिन्दी के भक्त कवियों में रसखान सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। उनकी प्रशस्ति में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत कुछ लिखा जा रहा है। किंवदन्तियों और मनचाही कल्पनाओं की तूलिका ने कवि के जीवनवृत्त को बड़ा ही रोचक और रंगीन बना दिया है। रसखान के जीवन की अनेक घटनाएँ डूबती-उतराती हुई मिटती-उभरती रही हैं और तमाम प्रयासों के बाद भी कवि का जीवन-वृत्त विषयक पृष्ठ लगभग सादे का सादा है। रसखान का नाम क्या था, निश्चित नहीं। कहाँ जन्म हुआ था, पता नहीं। वह किस वंश के थे कोई एक मत नहीं। जन्म-संवत् अन्धकार में है। मृत्यु तिथि शून्य में भटक रहा है। इस दिशा में अब तक जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है।

रसखान का नाम सैयद इब्राहीम था अथवा उनके नाम का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। वह पिहानी जिला हरदोई के निवासी थे या उनका निवास-स्थान दिल्ली था। उनका जन्म संवत् १५९० या १६१५ या १६३० या १६४० या १६४१ या १६४६ में हुआ। वे जाति के सैयद थे या पठान या सैयद पठान या तुर्क थे। वे बादशाही वंश के थे। दिल्ली में राजगद्दी हेतु होने वाले विप्लव के कारण वहाँ की दुर्दशा देखकर वेह् ब्रज चले आये। संवत्

१६०७ के लगभग गोस्वामी बिट्ठल नाथ जी के कृपापात्र हुए। संवत् १६७१ में प्रेम-वाटिका की रचना की। सम्वत् १६७५ या १६८५ में उनका स्वर्गवास हुआ।[१]

रसखान में विशेष रुचि रखने वाले विद्वान् डा० भवानीशंकर याज्ञिक ने 'रसखान रत्नावली' की भूमिका में कवि का जीवन-वृत्त सन् सम्वत् के साथ इतने विश्वासपूर्वक लिखा है कि उनकी दृष्टि में अब इस प्रसंग में कुछ लिखने की गुंजाइश शेष नहीं रह गयी है। मैं नहीं कहता कि जनश्रुतियों को सर्वथा निराधार अथवा तथ्यहीन मान कर चलना चाहिए। मेरा यह भी आग्रह नहीं है कि एक ग्रन्थ जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो उसकी कोई भी बात मानने के योग्य नहीं है। मैं केवल इस पक्ष में हूं कि किसी भी कवि अथवा साहित्यकार के जीवनवृत्त या उसकी कृतियों का अध्ययन करते समय मोहवश कुछ एक बातों के आधार पर कोई निश्चित धारणा स्थापित कर लेना अच्छी बात नहीं है। दुर्भाग्यवश रसखान के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है।

जहाँ पर विद्वानों ने रसखान द्वारा लिखित गदर की छानबीन में इतिहास के हज़ारों पृष्ठ उलट डाले, वहीं पर यह भी आवश्यक था कि इस कवि का वास्तविक नाम तथा ठिकाना जानने का भी प्रयत्न किया जाता। वास्तविक नाम के प्रकाश में आने पर पुनर्विचार की अनेक दिशाएँ प्रशस्त हो सकती थीं। 'प्रेम वाटिका' में कवि ने अपने विषय में जो संकेत किये हैं यदि उन्हें प्रामाणिक मानकर चला जाय तो उनसे इतना स्पष्ट ध्वनित होता है कि कवि अपने समय का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुष था। सम्राट् अकबर से लेकर मुहम्मद शाह तक सभी बादशाहों के शासनकाल का इतिहास विस्तार सहित उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में बादशाही वंश से इतना निकट का सम्पर्क रखनेवाला एक व्यक्ति पहचाना न जा सके, यह एक दुर्भाग्य का विषय है।

प्रश्न महत्वपूर्ण यह है कि रसखान के जीवनवृत्त का प्रामाणिक आधार

---

१. **संदर्भ के लिए देखिए—शिवसिंह सरोज, पृ० ४३७-४३६; डा० याज्ञिक रसखान रत्नावली, पृ० ६; डा० हरिहर नाथ टण्डन, वार्ता साहित्य, पृ० ३११; बाबू अमीर सिंह, रसखान और धनानन्द, पृ० ३; पं० रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३३०; किशोरीलाल गोस्वामी, सुजान रसखान में श्री रसखान जी का जीवन चरित्र; मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, पृ० २६२ तथा डा० कृष्णचन्द्र वर्मा, रसखान के वृत्त पर पुनर्विचार, हिन्दुस्तानी त्रैमासिक, भाग २७ अंक ३-४**

क्या हो सकता है ? **प्रेम वाटिका** के अंत:साक्ष्य सम्बन्धी दोहे, **दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता** और **भक्तमाल** आदि ग्रन्थों से प्राप्त साहित्य या प्रचलित किंवदन्तियाँ। मैं समझता हूँ कि रसखान जैसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुष के प्रसंग में उन सभी उपलब्ध तथ्यों को कुछ सीमाओं के साथ मान लेना चाहिए, जो शोध-विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते हों। किन्तु इस प्रकार की मान्यताएँ भी अन्तिम नहीं कही जा सकेंगी। इन्हीं बातों के प्रकाश में हमें कवि के जीवनवृत्त और उसकी रचनाओं के सम्बन्ध में पुनर्विचार करना है।

रसखान का वास्तविक नाम

रसखान ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। **वार्ता-साहित्य** और **भक्तमाल** आदि ग्रन्थों से भी इसका कोई संकेत नहीं मिलता। **'शिवसिंह सरोज'** के लेखक ने पहली बार इनके सैयद इब्राहीम होने का उल्लेख किया है। रसखान के इस नाम का पता सरोजकार को कहाँ से चला इसका उल्लेख नहीं है। इस प्रसंग में डा० याज्ञिक लिखते हैं—"रसखान का नाम इब्राहीम खां होना असम्भव सा है, कारण कि सूर वंश में ही रसखान के निकट सम्बन्धी और समकालीन इब्राहीम खां नामक एक व्यक्ति था जिसने महमूद आदिल शाह को संवत् १६१२ में परास्त कर पश्चिमी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। एक ही वंश में एक ही समय में दो निकट सम्बन्धियों में एक सा नाम होना असंगत सा जान पड़ता है।"

रसखान का नाम सैयद इब्राहीम है या नहीं, यह तो हम बाद में निश्चय करेंगे। पहले डा० याज्ञिक के तर्क को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। शिवसिंह तो इब्राहीम नाम के साथ सैयद शब्द लिखते हैं और याज्ञिक जी सैयद हटा कर खान जोड़ देते हैं। याज्ञिक जी इब्राहीम खां और रसखान को निकट सम्बन्धी बता रहे हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इब्राहीम खां का वंश वृक्ष कहीं से उनके हाथ लग गया है। जब बात ऐसी ही है तो इब्राहीम खां के निकट-सम्बन्धी और समकालीन रसखान के मूल नाम का पता तो याज्ञिक जी को होना ही चाहिए था। फिर नाम के प्रसंग में वे मौन क्यों हैं ?

रसखान के कवित्त-संग्रहों की पाण्डुलिपियों में उनके सैयद इब्राहीम होने का कोई प्रमाण नहीं। ऐसी स्थिति में सरोजकार को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। फिर इतिहास-ग्रन्थों से सैयद इब्राहीम नामक किसी भी

ऐसे व्यक्ति का कम से कम मुझे पता नहीं चल सका है जो बादशाही वंश के निकट संपर्क में रहा हो, सूफ़ी विचारधारा रखता हो और साथ ही कवि भी रहा हो।

मैं रसखान के नाम की खोज में गत कई वर्षों से था। सौभाग्य-वश मुझे आसफ़िया पुस्तकालय हैदराबाद से रसखान के मूल नाम का पता चल सका है। इस पुस्तकालय की पाण्डुलिपि सं० ४२५६ जदीद में हिन्दी के अनेक कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। १६ वें नम्बर पर रसखान की रचनाएँ उद्धृत हैं और कवि का नाम सैयद गुलाम मुहम्मद दर्ज है। पूरी पाण्डुलिपि फ़ारसी लिपि में है। इसमें कुल ४६ कवियों की रचनाएँ हैं। उन कवियों की रचनाओं के साथ शीर्षक रूप में रचनाकार की छाप अथवा नाम दोनों का उल्लेख है। जिन कवियों की रचनाएँ इस संग्रह-ग्रन्थ में हैं उनके नाम क्रमा-नुसार इस प्रकार हैं—ऊधो राम—पृष्ठ सादा है, अहमद, आनन्द, भूपति, भूकन बिरादर मतिराम, राजा मधु सिंह वालीए बूँदी, बेनीराम, तुलसीदास, जगन भादों राय, राजा जसवन्तसिंह—पृष्ठ सादा है, निहालचन्द, चिन्तामनि, छीत बिरादर भूकन, जियनदास, दत्तजू, दयालदास, दयादेव, रसखान सैयद गुलाम मुहम्मद, सदानन्द मुन्शी, राजाराम मिश्र, रामकिशन—पृष्ठ सादा है, रहीम, रघुनाथ, सुखदेव, सखानन्द, काशीराम, मुल्ला फ़ैज़ी बिरादर अबुल-फ़ज़्ल. मुहम्मद अबदुल्लाह तख़ल्लुस करीम, राय राधा क्रिश्न, केशवदास, राय पेमराज, कमाल, ज्ञानराय गोविन्दराम, गोविन्दराम मुन्शी, गंग, मतिराम, मित्रसेन बेनीराम, मंडनराम, मकरन्द उर्फ वंशीराम, मीर अब्दुल्लाह, नरोत्तम, निरंजन, जदुनन्दन सहाय रघुनाथ और रविनाथ। पाण्डुलिपि जीर्णावस्था में है और लगभग दो सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में उस समय तक रसखान का नाम सैयद गुलाम मुहम्मद मान लेना चाहिए जब तक कि किसी अन्य नाम के पक्ष में कोई प्रमाण उपलब्ध न हो जाय।

रसखान और सैयद गुलाम मुहम्मद

आसफ़िया पुस्तकालय के सग्रह-ग्रन्थ में रसखान के नाम से जो रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें से अधिकांश रसखान के प्रसिद्ध सवैये हैं। अस्तु, इस शंका की भी गुंजाइश नहीं रह जाती कि यह एक ही छाप के अलग-अलग दो कवि हैं। अब देखना यह है कि इतिहास से भी सैयद गुलाम मुहम्मद नामक किसी ऐसे व्यक्ति का पता चलता है या नहीं जो बादशाही वंश से बहुत निकट का सम्बन्ध रखता रहा हो, दिल्ली में निवास करता रहा हो, फ़ारसी भाषा में

श्रीमद्भागवत का अनुवाद पढ़ कर समझ सकने की गहरी पैठ रखता हो, सूफ़ी विचारधारा में आस्था रखनेवाला सच्चा मानव-प्रेमी रहा हो और राजगद्दी के हेतु होने वाले कलह से आतंकित होकर दिल्ली छोड़ कर गोवर्धन धाम में आकर बस गया हो। फिर **'प्रेम वाटिका'** के रचना-काल में विद्यमान भी रहा हो।

फ़ारसी तथा अरबी भाषा के तज़किरों और इतिहास-ग्रन्थों के देखने पर सैयद गुलाम मुहम्मद नामक चार व्यक्तियों का पता चलता है जो **प्रेम-वाटिका** के रचनाकाल संवत् १६७१ वि० में विद्यमान थे।

(१) **सैयद गुलाम मुहम्मद बुखारी**—इनको शाहजहां के शासनकाल में हज़ारी मंसब प्राप्त था। इनकी मृत्यु संवत् १६८७ वि० में हुई। इससे अधिक और कुछ पता नहीं चलता।[1]

(२) **सैयद गुलाम मुहम्मद नानौता**—शेख़ मुस्तफा के पुत्र सैयद गुलाम मुहम्मद का उल्लेख मुहम्मद सादिक़ कृत **तबक़ाते शाहजहानी** में इन शब्दों में हुआ है—

शेख़ सैयद गुलाम मुहम्मद नानौता पिसर सैयद मुस्तफ़ा नानौता अस्त। बिसियार बुज़ुर्ग बूद व अहले वज्दो समाअ व दर हालते वज्दो समाअ अज़ आलम रफ़तः राक़िमे तबकात दर सालि वफ़ाति ऊगुफ़तः।

गो गुलामे मुहम्मद आं शेख़े कि अज़ू बूद हल्ले अश्कालत।
फ़ख़रे ओलादि सैयदे कौनेन साहिबे वज्दो साहिबे हालत।
दर ग़मे उ बेअक़्ल मी गुफ़तम गर्द क़ौफ़ी बुवद अजां सालत।
बादि यकसालि अक़्ल दूरअन्देश नारःज़द गुफ़्त फ़ात फ़िलहालत[2]।

(१०४१ हि०)

भावार्थ यह है कि नानौता निवासी सैयद गुलाम मुहम्मद शेख मुस्तफ़ा के पुत्र थे। वे बड़े ही भद्र पुरुष थे और सूफी गायन-वादन में विशेष रुचि रखते थे और समाअ की स्थिति में ही स्वर्गवासी हुए। तबकात के लेखक ने उनकी मृत्यु तिथि पद्यबद्ध की है।

---

१. अब्दुल हमीद लाहौरी, बादशाहनामा, पृ० १०८
२. मुहम्मद सादिक़, तबक़ाते शाहजहानी, पृ० ५१०

गुलाम मुहम्मद एक ऐसे महात्मा थे जिनके माध्यम से अनेक कठिनाइयां सरल हो जाती थीं। वे नवी के वंश में कुलभूषण स्वरूप थे। उनकी मृत्यु सन् १०४१ हि०—संवत् १६८८ वि०—में समाअ की स्थित में हुई।

(३) **सैयद गुलाम मुहम्मद**—इनका उल्लेख मौलवी कवीरुद्दीन के प्रसिद्ध ग्रन्थ **मुनतखिबुललुबाब** में प्रथम खण्ड के पृष्ठ सं० ६०३ पर हुआ है जिसमें सन् १०७३ हि०–संवत् १७०० वि० में राजपूतों के साथ होने वाले युद्ध में इनकी वीरता की प्रशंसा की गयी है। ये कहाँ के रहने वाले थे इसका कुछ पता नहीं चलता। इतना निश्चित है कि ये ऊपर के दोनों व्यक्तियों से भिन्न हैं

(४) **सैयद गुलाम मुहम्मद अमरोहः**–अमरोहा निवासी सैयद गुलाम मुहम्मद के प्रसंग में अरबी भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थ **नुजहतुल्खवातिर** के पाँचवें खण्ड में क्रम सं० ४६१ पर निम्नलिखित विवरण पाया जाता है–

"प्रतिष्ठित विद्वान् और पुण्यात्मा सैयद गुलाम मुहम्मद आत्मज दयार हुसैनी अमरोहवी एक नक्शबन्दी महात्मा अमरोहा में पैदा हुए और वहीं पर पालन पोषण हुआ। अपने नगर के विद्वानों से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। फिर दिल्ली की यात्रा की और अब्दुल बाकी के पुत्र शेख़ अब्दुल्लाह के संपर्क में रहे और उनसे तथा अन्य विद्वानों से ज्ञान-लाभ किया। उन्हीं से तसव्वुफ़ की शिक्षा प्राप्त की। वे उच्चकोटि के कवि थे। उनके फ़ारसी और अरबी में अशआर थे। उनके पिता दयार, शेख़ ताजुद्दीन नक़्शबन्दी के शिष्य थे। उनके दादा की मृत्यु सन् १०१२ हि०-सं० १६६० वि० में हुई। उनके पिता का देहावसान सन् १०४० और कुछ हिजरी-सं० १६८७-६२ वि० में हुआ जैसा कि असरारिये में है। गुलाम मुहम्मद के मृत्यु संवत् का पता नहीं चलता"

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त **मासिरुल उमरा**,[1] **मासिरे आलमगीरी**[2] और **वीरविनोद**[3] में भी सैयद गुलाम मुहम्मद अमरोहः का उल्लेख मिलता है। सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध शाहज़ादा मुहम्मद अकबर ने जो राजगद्दी के लिए बगावत की थी उसमें अमरोहे के गुलाम मुहम्मद ने इस बगावत के करने का मज़हबी फतवा दिया था। शाहजादा अकबर की इस बेवफ़ाई से दिल्ली

---

१. **मासिरुल उमरा, पृ० २०४**
२. **मआसिरे अलमगीरी पृ० २०४**
३. **वीरविनोद, खण्ड २, पृ० ६४७**

में सनसनी फैल गई थी। सम्राट् औरंगजेब ने अकबर का साथ देने वालों को बहुत कड़े दण्ड दिए थे और वदसगाली करने वालों के पीछे जिनमें काज़ी खूब्रुल्लाह, मुहम्मद आक़िल, शेख तैयब और ग़ुलाम मुहम्मद अमरोहः सम्मिलित थे, सरकारी आदमी लगा दिये और उन्हें पकड़ कर बीटलीगढ़ के किले भेज दिया गया[१]।

इसके अतिरिक्त अमरोहावासी सैयद गुलाम मुहम्मद के विषय में और कुछ पता नहीं चलता।

उपर्युक्त विद्वानों में गुलाम मुहम्मद–१ गुलाम मुहम्मद–२ के विषय में विशेष जानकारी न होने के कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक नानौता का प्रश्न है यह सहारनपुर जनपद के देवबन्द तहसील के रामपुर परगने में स्थित एक छोटा-सा नगर है। सहारनपुर प्रारम्भ से ही मुगलों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। दिल्ली से नानौता का फासला भी बहुत अधिक नहीं है। फलस्वरूप नानौता में जन्म पाने वाले किसी व्यक्ति का दिल्ली में निवास करना आश्चर्य की बात भी न होगी। फिर नानौता निवासी सैयद गुलाम मुहम्मद की मृत्यु-संवत् १६८८ वि० भी कुछ एक विद्वानों द्वारा अनुमानित[२] रसखान के मृत्यु-संवत् के बहुत निकट ठहरता है। किन्तु केवल इतनी सी बात के प्रकाश में रसखान को नानौतावासी सैयद गुलाम मुहम्मद नहीं माना जा सकता।

मुरादाबाद जनपद में स्थित अमरोहा नगर प्रारम्भ से ही सैयदों का गढ़ रहा है। सूफ़ी विचारधारा के अनेक विद्वानों ने इस नगर को विभूषित किया है। यहाँ के सैयदों का प्रारम्भ से ही बड़ा सम्मान था। इस प्रसंग में **मुरादाबाद गज़ेटियर** की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"दि सैयिद्स आफ़ अमरोहा एन्ज्वाण्ड ए ग्रेट रेपूटेशन थ्रू आउट इण्डिया लांग बिफोर दि डे आफ अकबर ऐण्ड इन लीनिएज दे वेयर कानसीडर्ड सुपीरियर ईवेन टू दि फेमस बारहा सैयिद्स।"[३]

अमरोहावासियों की हिन्दी और संस्कृत भाषाओं के अध्ययन में भी विशेष रुचि थी। शेख अज़्दुद्दीन अमरोहवी संस्कृत और हिन्दी भाषा के प्रकाण्ड

---

१. **वीरविनोद, खण्ड २, पृ० ६५०**
२. **मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, पृ० २६२**
३. **डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर ऑव यूनाइटेड प्राविन्सेज, वाल्यूम १६, पृ० ८५**

विद्वान् बताये जाते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि अमरोहा के ज्ञानपिपासु जनों में साम्प्रदायिक अथवा भाषायी संकीर्णता न थी। फिर सैयद गुलाम मुहम्मद प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ही अमरोहा से दिल्ली चले गये थे। उनके अन्तिम जीवन का **'नुजहतुल ख़वातिर'** के लेखक ने उल्लेख नहीं किया है। इससे सहज ही सोचा जा सकता है कि वे किसी कारणवश अपने जीवन के अन्तिम काल में दिल्ली छोड़कर कहीं चले गये थे और गुमनामी में रह कर जीवन व्यतीत करना चाहते थे। उनके पितामह की मृत्यु संवत् १६६० वि० में हुई। अनुमानतः यदि उस समय उन्हें तेरह चौदह वर्ष का भी मान लिया जाय तो उनका जन्म सम्वत् १६४६-४७ के आस-पास ठहरेगा जो श्री किशोरी लाल गोस्वामी द्वारा अनुमानित रसखान के जन्म संवत् के निकट होगा। ऐसी स्थिति में **'प्रेम वाटिका'** उनकी २४-२५ वर्ष की अवस्था की रचना मानी जायगी। फैजी १३-१४ वर्ष की अवस्था में यदि उच्चकोटि की कविता रच सकते थे और कवि देव **भावविलास** जैसा ग्रन्थ बना सकते थे, तो २४-२५ वर्ष की अवस्था वाले रसखान मात्र ५३ दोहों का एक छोटा सा ग्रन्थ भी नहीं रच सकते थे, यह सोचना तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता।

रसखान और अमरोहावासी सैयद गुलाम मुहम्मद के जीवन में साम्य

१. दोनों ही प्रतिष्ठित व्यक्ति थे।

२. दोनों के दिल्ली में निवास करने का पता चलता है।

३. दोनों ही सूफ़ी विचारधारा के थे।

४' दोनों ही फ़ारसी भाषा में गहरी पैठ रखते थे और कवि भी थे।

५. एक को सम्राट् अकबर का समकालीन बताया जाता है और दूसरा शाहज़ादा अकबर का समकालीन था।

६. दोनों को राजगद्दी हेतु होनेवाले विप्लव के कारण दिल्ली छोड़नी पड़ी।

७. अमरोहावासी गुलाम मुहम्मद सूफ़ियों की नक्शबन्दी शाखा से सम्बद्ध थे। फलस्वरूप तसव्वुफ़ सम्मत गायन-वादन में उनकी रुचि विशेष का होना स्वाभाविक था। रसखान भी गायन-वादन में विशेष रुचि रखते थे।

८. दोनों के राजदरबार से सम्बद्ध होने का पता चलता है।

९. रसखान के विषय में कहा जाता है कि वे हज करने का विचार रखते थे किन्तु बाद में उन्होंने अपना यह विचार बदल दिया। सम्राट्

औरंगजेब के भय से शाहजादा मुहम्मद अकबर भागकर फ़ारस चला गया था। सम्भव है कि अमरोहावासी गुलाम मुहम्मद से भी उसने चलने के लिए कहा हो किन्तु वे किसी कारणवश न गये हों।

१०. सम्राट् से दोनों ही की भेंट होने का पता लगता है।

असमानता

(१) रसखान गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी के शिष्य कहे जाते हैं। बिट्ठलनाथ जी का निधन सवत् १६४३ में हो गया था। अस्तु अमरोहावासी सैयद गुलाम मुहम्मद जिनका जन्म अनुमानतः संवत् १६४६-४७ में ठहरता है, गोस्वामी जी के शिष्य नहीं हो सकते।

(२) रसखान के विषय में कहा जाता है कि वे शाही खानदान के थे। सैयद गुलाम मुहम्मद अमरोहे के सैयद थे। उनमें शाही खानदान का रक्त नहीं था। इस दृष्टि से भी दोनों में असमानता पाई जाती है।

जहाँ तक गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी के शिष्य होने की बात है इस सम्बन्ध में कोई ऐसा ठोस प्रमाण नहीं है कि जो अकाट्य हो। डा० देवेन्द्र उपाध्याय ने रसखान को इस कुल का भक्त मानने में पर्याप्त संदेह ही प्रकट किया है। वे लिखते हैं—"रसखान ने प्रेम निकेतन जीवन का नाम लिया, गोवर्धनधाम की चर्चा की, युगलस्वरूप के ललाम रूप और उनकी शरण का भी उल्लेख किया पर कहीं भी इस बात का संकेत नहीं किया कि उन्होंने श्रीनाथ जी को अपना इष्टदेव बनाया अथवा गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी की शरण ली।—रसखान यदि इस कुल के भक्त होते तो इसका उल्लेख अवश्य करते।"[१]

शेष रह गयी शाही खानदान का होने की बात। इस प्रसंग में '**छिनहि बादसा बंस की ठसक छोरि रसखान**[२] वाला दोहा प्रमाण रूप में उद्धृत किया जाता है और इसका सीधा अर्थ यह किया जाता है कि रसखान बादशाही वंश के थे। किन्तु बात ऐसी प्रतीत नहीं होती। इन शब्दों से यह अर्थ भी निकलता है कि वे सम्राट्-वंशाश्रित रहकर ठाठदार जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने हिन्दी कवियों की भाँति कई नरेशों को निकट से देखा था जिसका उल्लेख एक स्थान पर किया भी है—**देस बिदेस के देखे नरेसन रीझ की कोऊ न बूझ**

---

१. **डा० देवेन्द्र उपाध्याय, धर्मयुग ८, दिसम्बर १९६८ ई० में प्रकाशित पत्र**
२. **प्रेमवाटिका, ४८**

करेगो।[१] फिर दरबार-सेवन का संकेत भी **सुजान रसखान** से मिलता है—**कीन्हीं नही प्यार नहीं सेयो दरबार चित्त चाह्यो न निहार्यो जो पै नन्द के कुमार को।**[२] इस प्रकार रसखान के रक्त में बादशाही रक्त मिलाने का प्रयास ठीक नहीं जान पड़ता। और फिर रसखान सैयद थे, उनके जीवन-काल में कोई सैयद शासक नहीं हुआ, इसलिए उनको बादशाही वंश का मानना उचित नहीं जान पड़ता।

अब रसखान विषयक कुछ एक तथ्यों पर और भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। इनके प्रकाश में उन्हें पहचानने में सुविधा हो सकती है।

'देखि गदर हित-साहिबी' से अभिप्राय

रसखान-कृत गदर हित साहिबी वाला दोहा जहाँ एक ओर अनेक गुत्थियों को सुलझाता है वहीं दूसरी ओर बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। रसखान के सम्पादकों ने इसे '**प्रेमवाटिका**' में स्थान दिया है। **प्रेमवाटिका** का रचनाकाल संवत् १६७१ है। यदि यह दोहा **प्रेमवाटिका** का ही है तो इसमें वर्णित विप्लव को संवत् १६७१ या उससे कुछ एक वर्ष पूर्व घटित होना चाहिए। डा० याज्ञिक ने गदर का समय संवत् १६१२ माना है।[३] यह बात समझ में नहीं आती कि जो गदर संवत् १६१२ में हुआ हो उसका उल्लेख कवि ने ५६ वर्ष बाद संवत् १६७१ में किया हो। इसलिए यदि कोई गदर हुआ हो तो उसे संवत् १६७१ के निकट मानना होगा। और यदि इस दोहे को **सुजान रसखान** के 'चुगल लबार' वाले दोहे[४] की भाँति स्वतन्त्र रूप से रचा हुआ मान लें तो इससे गदर के संवत् १६७१ के बाद घटित होने की बात भी सोची जा सकती है। यहाँ पर एक बात और भी विचारणीय है, द्रष्टव्य यह है कि रसखान ने **सुजान रसखान** की रचनाओं में जिन अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग किया है वे ब्रजभाषा में प्रचलित हो चुके थे। **प्रेमवाटिका** में जिस गदर शब्द का प्रयोग हुआ है वह १८ वीं शताब्दी तक के किसी भी ब्रजभाषा 'सुकवि' के यहाँ नहीं पाया जाता। गदर से ही बना हुआ ग़द्दार शब्द भी ब्रजभाषा पदावली में प्रवेश न कर सका। ब्रजभाषा की बात

---

१. **सुजान रसखान**, ७
२. **वही**, २१
३. **डा० याज्ञिक : रसखान रत्नावली** पृ० १५
४. **सुजान रसखान**, १६

जाने दीजिए फारसी तथा उर्दू के कवियों ने भी १८५७ के पहले इसका प्रयोग शायद ही किया हो। शेखसादी के काव्य में इस शब्द का प्रयोग हुआ अवश्य है किन्तु बगावत या लूट मार आदि अर्थों में नहीं अपितु बेवफ़ाई के अर्थ में। यथा—

क़दीमाने ख़ुदरा बयफ़ज़ाए क़द्र।
कि हरगिज़ नयायद ज़परवरदः ग़द्र॥[1]

१८५७ ई० के विप्लव के बाद ही यह शब्द भारतीय जनों के निकट संपर्क में आया। इस प्रकार यह दोहा **प्रेमवाटिका** का होने की बात तो दूर रही, रसखान रचित भी नहीं प्रतीत होता। फिर भी अभी हमें इसे रसखान रचित मानकर ही चलना है। औरंगजेब के विरुद्ध शाहजादा मुहम्मद अकबर द्वारा की गई बग़ावत की खबर से दिल्ली में सनसनी का फैल जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। गुलाम मुहम्मद का ऐसी स्थिति में जान बचाकर भागना और मथुरा में शरण लेना भी स्वाभाविक है। उनके पीछे सरकारी कर्मचारियों के दौड़ाए जाने का उल्लेख इतिहास में मिलता ही है। यदि यह दोहा रसखान का है तो उन्होंने इसे उसी समय रचा होगा और उसी समय उन्होंने चुगल लबार वाले दोहे की रचना भी की होगी।

'प्रेमवाटिका' किस अवस्था की रचना है ?

प्रेमवाटिका का रचना काल संवत् १६७१ माना जाता है। कुछ विद्वानों ने इसके रचनाकाल को लेकर भी बहस की है और कुछ लोग इस ग्रन्थ को ही प्रामाणिक नहीं मानते। हम इन विवादों में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझते। हम तो डा० याज्ञिक के इस मत को ही मानकर चलना चाहते हैं कि **प्रेमवाटिका** रसखान का ही बनाया हुआ ग्रन्थ है। किन्तु उनकी एक बात विचारणीय अवश्य है। वे लिखते हैं—रसखान द्वारा लगाई गई **प्रेमवाटिका** पं० किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सिंचित परिष्कृत परिवर्तित और समलंकृत हुई।[2] इस पुस्तक का कोई हस्तलेख नहीं मिलता, इस कारण कहा नहीं जा सकता कि गोस्वामीजी ने मूल ग्रन्थ में क्या परिवर्तन किया। **प्रेमवाटिका** का सिंचन और परिष्करण आपत्तिजनक नहीं है किन्तु परिवर्द्धन और समलंकरण

---

१. **फ़रहंगे आसफ़िया, जिल्द ३, पृ६ ३०२**
२. **डा० याज्ञिक : रसखान रत्नावली, पृ० १६-२०**

की चेष्टा खटकती है। अनुमानतः मूल प्रति कुछ खण्डित और अशुद्ध होगी। गोस्वामी जी ने पाठशोधन के साथ खण्डित अंश को पूरा किया होगा। मूल पाठ की कितनी रक्षा की गयी, कहा नहीं जा सकता।

उपर्युक्त मत के प्रकाश में इतना स्पष्ट हो जाता है कि मूल **प्रेमवाटिका** के साथ कुछ उलटफेर निश्चय ही की गयी है। शोध की दिशा में अभी किसी ऐसे यन्त्र का आविष्कार नहीं हो सका है जिसके स्पर्श से खरे साहित्य में धुले-मिले खोटे साहित्य को अलग किया जा सके। ऐसी स्थिति में **प्रेमवाटिका** की जब तक कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

डा० याज्ञिक के मतानुसार इस ग्रन्थ की रचना कवि ने ८१ वर्ष की अवस्था में की। उनकी यह बात कहांतक सार्थक है हमें इस पर विचार करना है। रसखान के विषय में कहा जाता है कि वे **श्रीमद्भागवत** का फ़ारसी अनुवाद पढ़ा करते थे। इससे पता चलता है कि प्रारम्भ में उन पर फ़ारसी प्रभाव बहुत अधिक था। डा० याज्ञिक के मतानुसार रसखान की भाषा में फ़ारसी अरबी के वही थोड़े से शब्द उपयोग में आये हैं जो ब्रजभाषा में पहले ही आत्मसात् हो चुके थे। **सुजान रसखान** में जिन अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—जहान, सुमार, हजार, हमेल, तमासा, जरतारी, कलगी, ख़्वारी, राह, जेउर, कमानी, बाय, इलाज, मजरी, रोज, दलालनि, दिवानी, निहाल, मौज, निसान, गुमान और कफनी। इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त शब्दों में सभी ऐसे हैं जो ब्रजभाषा में पहले से आत्मसात् हो चुके थे। अब **प्रेमवाटिका** की अरबी फ़ारसी शब्दावली देखिए—महबूब, साहिबा, गदर, अजूबो, नेजा, मौलवी, गरूर, जांबाजी, खूब, कुरान और लैली। इन शब्दों की प्रकृति सुजान रसखान के शब्दों से सर्वथा भिन्न है। हिन्दी के भक्त कवियों में सूर, तुलसी और मीरा ने भी अरबी फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक किया है।[1] किन्तु उनके काव्य में महबूब लैली कुरान, मौलवी जांबाजी जैसे शब्द नहीं मिलते। और फिर गदर शब्द तो ब्रज के कवियों में रसखान ही के यहाँ मिलता है। इस तथ्य के प्रकाश में अब दो रास्ते हैं। या तो **प्रेमवाटिका** को रसखान-रचित न

१. **इस प्रसंग में देखिए लेखक का तुलसी काव्य की अरबी-फ़ारसी शब्दावली एक सांस्कृतिक अध्ययन शीर्षक ग्रन्थ।**

माना जाय या इसे उनके प्रारम्भिक जीवनकाल की रचना माना जाय जब उन पर फ़ारसी का प्रभाव बहुत अधिक था। अस्सी इक्कासी वर्ष की अवस्था का एक व्यक्ति जो कृष्ण के प्रेम में रंग गया हो लैला मजनूँ के प्रेम की चर्चा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से प्रेम वाटिका को कवि की २४-२५ वर्ष की अवस्था की रचना मानना अधिक समीचीन है।

भये मियां रसखान

भये मियाँ रसखान वाले दोहे में मियां से मुसलमान और रसखान से हिन्दू अर्थ लेकर रसखान के हिन्दू धर्म स्वीकार करने की बात की जाती है। मुझे इससे बहस नहीं कि रसखान अन्तिम काल तक मुसलान ही थे या बाद में हिन्दू हो गये। मुझे तो इस दोहे में जो अर्थ का अनर्थ किया गया है केवल उस पर विचार करना है। रसखान संगीत विद्या में गहरी पैठ रखते थे, उनकी रचनाओं के प्रकाश में इतना तो सभी को स्वीकार करना चाहिए। उनके गायन-वादन में बहुत रस रहा होगा, फलस्वरूप वे जिस राजकुमार के आश्रय में रहे होंगे उससे उन्हें तान तरंग ख़ां, चाँद खाँ, नौबत ख़ां, बिलास ख़ाँ रंगखाँ, सवादख़ाँ, गुनख़ां आदि कलावन्तों की भाँति रसख़ाँ की उपाधि मिली होगी, ऐसी कल्पना सहज रूप से की जा सकती है। फिर **प्रेमदेव की छविहि लखि भये मियाँ रसखान** में रसखान से पूर्व जुड़ा हुआ मियां शब्द मियाँ तानसेन और मियां बिलास ख़ां की भांति रसख़ां के संगीतज्ञ होने की पुष्टि करता है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमदेव की छवि देखने के पश्चात् ही उनके मन में संगीतकला के प्रति स्नेह जगा था और उन्हें इसके नतीजे में रसख़ां की उपाधि मिली थी जिसका उपयोग उन्होंने अपनी ब्रजभाषा की कविता में उसकी प्रकृति के अनुरूप रसखान के रूप में किया।

मैंने फारसी भाषा के किसी तजकिरे में सैयद गुलाम मुहम्मद के साथ ढोलनवाज़ शब्द भी देखा था। बहुत छानबीन करने पर भी दुबारा यह संदर्भ मुझे अभी तक नहीं मिल सका। इससे इतना ध्वनित होता है कि मियाँ रसखां की ढोलवादन में विशेष रुचि थी। **'रसखां ढोल बजाइ के बेच्यां हिय जिय साथ'** वाला दोहा भी उनकी इस रुचि की ओर संकेत करता है, फिर इस दोहे में रसखान ने अपनी कलावन्ती उपाधि रसखाँ भी सुरक्षित रखी है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कवि का जो चित्र प्रकाशित किया है उस पर भी मियां रसख़ां फ़ारसी अक्षरों में लिखा हुआ है। इस प्रकार भये मियां रसखान से उनके कलावन्त रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने का संकेत मिलता है।

रसखान के चित्र

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भारत कला भवन काशी से प्राप्त शिवदास नामक व्यक्ति का बनाया हुआ एक चित्र प्रकाशित किया है। इस चित्र की वेषभूषा कमर से लगा हुआ छुरा अलग कर देने पर केशवदास और बिहारी के चित्रों से मिलती जुलती है। कवि अपने सजधज पूर्ण परिधान के साथ एक मुस्लिम सरदार या दरबारी व्यक्ति प्रतीत होता है। मैंने सम्राट् अकबर से आलमगीर तक के सभी चित्रकारों में शिवदास नामक व्यक्ति की खोज की, किन्तु मुझे इस नाम का कोई चित्रकार नहीं मिला।

'धर्मयुग' के २७ अक्तूबर १९६८ के अंक में भारत कला भवन वाराणसी के सौजन्य से प्राप्त वही चित्र प्रकाशित हुआ है। किन्तु मिश्र जी वाले चित्र में और इसमें बड़ा अन्तर है। धर्मयुग के चित्रकार ने रसखान की कमर से लगा हुआ छुरा निकालकर फेंक दिया है और उनके हाथ में घड़ी के स्थान पर एक गुलाब का फूल अथवा कदम्ब का फूल थमा दिया है। इतना ही नहीं उनकी पगड़ी और मूँछ दाढ़ी का इस्टाइल भी बदल दिया है। इस चित्र के साथ यह सूचना दी गई है कि रसखान के इस चित्र का मूलस्वरूप किशनगढ़ में बना था। १८ वीं शती में किशनगढ़ में ऐसे अनेक कवियों और भक्तों के चित्र बने हैं। अतः इन सभी चित्रों में साहृश्य दिखलाई पड़ता है। अतएव ऐसा जान पड़ता है कि इन चित्रों की मूल प्रतियाँ उस समय उपलब्ध थीं। याज्ञिक जी की सूचनानुसार रसखान के चित्र **कल्याण** मासिक पत्रिका गोरखपुर और अहमदाबाद से प्रकाशित **महानुभाव रसखान** में भी छपे हैं।[1] ये चित्र काल्पनिक हों अथवा मूल प्रतियों को सामने रखकर बनाये गये हों इतना तो स्पष्ट है ही कि रसखान के रूप में ख्याति प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही ये चित्र बनाये गये। अब यदि 'रसखान' वैष्णव वेशधारी थे और दीक्षित होने के उपरान्त ही रसखानि नाम से प्रसिद्ध हुए तो चित्रकार को इसका कुछ ध्यान तो रखना ही चाहिए था।

१८वीं शती का ही एक चित्र पहाड़ी शैलों में श्री प्रभुदयाल मीतल के ग्रन्थ **'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास'** में पृष्ठ सं० १०७ पर प्रकाशित हुआ है। इस चित्र में गोपियों के साथ दरबारी वेश-भूषा वाले दो भक्त भी दिखाए गए हैं जिनके चित्र रसखान के 'धर्मयुग'-वाले चित्र से कुछ अधिक भिन्न नहीं

---

१. डा० याज्ञिक, रसखान रत्नावली, पृ० २८

जान पड़ते । ऐसा लगता है कि दरबारी जन अपनी पूरी सजधज के साथ गोवर्धनधाम में आया करते थे । रसखान के गोवर्धनधाम में आने की बात की ही जाती है । यह भी संभव है कि उन्होंने अपनी दरबारी वेशभूषा के साथ ही गोवर्धनधाम में प्रवेश किया हो । तुलसीराम की **उर्दू भक्तमाल प्रदीपन** से पता चलता है कि रसखान अपने मुरशिद के साथ वृन्दावन पहुँचे थे ।[१] गोवर्धनधारी चित्र के छविकार ने बहुत संभव है कि इन्हीं महानुभावों को दृष्टि में रख कर वह चित्र तैयार किया हो । रसखान यदि अष्टछाप के कवियों की भाँति कंठीमाला धारण करते होते तो उनके छविकारों ने उसका चित्रांकन अवश्य ही किया होता । रसखान के उपलब्ध चित्रों के प्रकाश में उन्हें सूर, तुलसी और मीरा की परम्परा में रखना उचित नहीं प्रतीत होता । वे केशव, बिहारी रसलीन तथा घनानन्द आदि की शाही वेशधारी परम्परा में रखे जा सकते हैं । ऐसी वेश भूषा वाले रसखान को स्वामी बिट्ठलनाथ जी का शिष्य मानना भी न्यायसंगत नहीं है ।

रसखान की संतति

अलीगढ़ विश्वविद्यालय की मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी के सग्रहालय में एक संग्रह ग्रन्थ में रसखान के बत्तीस कवित्त और सवैये संगृहीत हैं । इन्हीं कवित्त और सवैयों के बीच रसखानरचित एक कवित्त और दो सवैये ऐसे हैं जिनसे जमाल नामक उनके एक पुत्र का पता चलता है । यहाँ पर एक सवैया उद्धृत किया जाता है—

लंक के जुद्ध की दुन्दभी तैंसे करोरक कान में आन बजावै ।
पौन के पूत पुकारि पुकारि गरौ किनि फारि कै हांक सुनावै ॥
मूसल धारन तें मेघवा अँखियान के ऊपर ही झरि लावै ।
ये अपनौ बहुतेरी करें पर मेरे जमालहि कौन जगावै ॥[२]

इस सवैये में रसखान की छाप नहीं है किन्तु यह रसखान के अन्य कवित्तों के साथ ही संगृहीत है । जमाल विषयक तीनों छन्द एक साथ हैं । उसके बाद जो छन्द हैं वे भी रसखान ही के हैं अतएव अकारण ही इनको संदिग्ध मानना उचित नहीं जान पड़ता । फिर इनकी भाषा भी रसखान की अन्य रचनाओं की भाषा से भिन्न नहीं है । इसलिए ऐसा सोचा जा सकता है

२. तुलसी राम, उर्दू भक्तमाल, पृ० ५४६
३. अब्दुस्सलाम ९०३/२५ हस्तलिखित, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़

कि रसखान का जमाल नामक कोई पुत्र था जिसका निधन उनके जीवनकाल ही में हो गया था।

रसखान की नातिया अथवा इस्लामी भक्ति परक रचनाएँ

मुबारक, पेमी, रसलीन आदि हिन्दी के अनेक ऐसे मुसलमान कवि हुए हैं जिन्होंने एक ओर श्री कृष्ण जी की भक्ति में डूबकर काव्य की सर्जना की है तो दूसरी ओर इस्लामी आस्थाओं की अभिव्यक्ति भी मुहम्मद साहब और हज़रत अली की स्तुति में मधुर रचनाएँ छन्द-बद्ध करके करते रहे हैं। रसखान भी एक ऐसे ही कवि प्रतीत होते हैं। आसफ़िया पुस्तकालय हैदराबाद से उनके दो सवैये ऐसे प्राप्त हुए हैं जो हज़रत अली और मुहम्मद साहब की प्रशंसा में हैं—

सिंधु समान जहान के बीच में सीप बिदीथ कै राज थली है।
साईं सेवाती को बूंद परो रस को रसखान की भांति भली है॥
नूर कौ नीर पड़ौ तहं जाइ जहाँ अब्दुल्लहि जी की गली है।
पारो बिचारो निहारो सभै मिलि मोती मुहम्मद अन्त अली है॥
करतार तुम्हैं एतो जोर दियो न कियो कोइ और समान बली।
तथा—
छलकै जिन फेरो न मार को जात सो बांध लियो इबलीस छली॥
छूट गयो इफरीत तहाँ यह बात न जानत भाँति बली।
दुख संकट गाढ़ परै जिह को तिह को रसखान सुहाइ अली॥[1]

उपर्युक्त सवैयों की भाषा में जो प्रवाह और लयात्मकता है वह रसखान के अतिरिक्त किसी अन्य साधारण कोटि के कवि के वश की बात नहीं। इनसे यह भी पता चलता है कि रसखान ने इस्लामी इतिहास और हदीस की पुस्तकों का भी गंभीर अध्ययन किया था। इस दृष्टि से भी अमरोहावासी सैयद गुलाम मुहम्मद जो अरबी फ़ारसी के प्रकाण्ड विद्वान थे, रसखान कहलाने के अधिकारी हैं।

निष्कर्ष

जब तक कोई और ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता हम अमरोहावासी सैयद गुलाम मुहम्मद को रसखान मानकर निम्नलिखित निष्कर्ष निकालने के पक्ष में हैं—

---

१. **दवावीन ४१३, आसफ़िया पुस्तकालय हैदराबाद**

रसखान का नाम सैयद गुलाम मुहम्मद था। ये सैयद दयार हुसैनी के पुत्र थे। इनका जन्म मुरादाबाद जनपद में स्थित अमरोहा नगर के एक प्रतिष्ठित सैयद परिवार में संवत् १६४६-४७ के लगभग हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अमरोहा में ही हुई। अमरोहा से ये युवावस्था में ही दिल्ली चले आये। दिल्ली में इन्होंने अब्दुलबाक़ी के पुत्र शेख़ अब्दुल्लाह से तसव्वुफ का ज्ञान प्राप्त किया। इसी समय इन्होंने **श्रीमद्भागवत** का फारसी अनुवाद पढ़ा जिससे इनकी रुचि का झुकाव श्री कृष्ण जी की लीलाओं की ओर हुआ। इस बीच इन्हें मुगल दरबार के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ ये ठाठदार जीवन व्यतीत करने लगे। संगीत में इनकी पैठ को देखकर इन्हें 'मियां रसखां' की उपाधि दी गई जिसका उपयोग इन्होंने अपनी कविता में रसखान के रूप में किया। अबुल फज़ल और रसलीन आदि की भाँति ये संगीत विद्या में निपुण होने के साथ ही साथ एक कुशल योद्धा भी थे। इस्लामी इतिहास और हदीस पर इनकी अच्छी दृष्टि थी। सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध शाहजादा मुहम्मद अकबर द्वारा की गयी बगावत को इन्होंने शरीअत-सम्मत ठहराया। यह घटना संवत् १७३७ में हुई। जब सम्राट् औरंगजेब को इसकी सूचना मिली तो उसने इनके पीछे सरकारी कर्मचारी लगा दिये। शाहजादा मुहम्मद अकबर भाग कर फारस चला गया किन्तु रसखान ने ब्रज में निवास करना अपने लिए उचित समझा। फलस्वरूप ये माघ शुक्ल ११ संवत् १७३७ को पकड़कर बीटलीगढ़ के किले भेज दिए गये जहाँ इन्हें सम्भवतः मृत्यु दण्ड दिया गया। इस प्रकार रसखान ६० वर्ष तक जीवित रहकर संवत् १७३७ में स्वर्गवासी हुए। इनके जमाल नामक एक पुत्र का भी पता चलता है जिसका निधन संभवतः इनके जीवन काल में ही हो गया था। **प्रेमवाटिका** इनकी लगभग २४-२५ वर्ष की अवस्था की रचना है।

अंत में यहाँ रसखान के १२ अप्रकाशित कवित्त और सवैये उद्धृत किये जा रहे हैं। इन कवित्त और सवैयों को रसखान के किसी भी संकलन में स्थान नहीं मिल सका है। प्रथम दस छन्द मुस्लिम विश्वविद्यालय के संग्रह-ग्रन्थ सं० अब्दुस्सलाम ६०३।२५ से उद्धृत हैं। अन्तिम दो छन्द आसफ़िया पुस्तकालय की पाण्डुलिपि सं० दवावीन ४१३ से उद्धृत हैं।

रसखान की अप्रकाशित रचनाएँ

(१)

कान्ह बन आयो कै सुधा सों सन आयो सखि
मन मांहि छायो दुख जानों न कितै गयो।
हिय सों हियो मिलाइ मन्द मन्द मुस्काइ
डीठ रसनां सों लाइ ललित बितै गयो॥
तबही ते रसखान आनदमईन पर
रागही जनाइ मेरे भागहि जितै गयो।
लालसा नितैहै कब हित कै इतैहै
वैसे फिर कै चितैहै जैसे फिरकै चितै गयो॥

(२)

ठाढ़ी रहै आस पास सांस लेत नंद लाल
जदपि निगोड़ो दोउ कंयो बार लैलिये।
ताहू पर इहां हम हांथ मसि रसखान
लाज छांड़ि गारी ढ्ँक दै लिये तो दैलिये॥
खस के निकस गो कहां का सेस हंसिबो है
बसिबोय नीको जहाँ ऐसे सैलि बैलि ये।
पैयां परों भाई नेकु बरज कन्हाई नांतो
गेलि ये छुड़ाई तेरे छोहरा की छैलि ये॥

(३)

सबही मिलि मो मन मोहन की मधुरी मुस्कान दिखाय दई।
वह मोहन मूरति मैन मई उन हौं चितई तब हौं चितई॥
उन तो अपने अपने गृह कै रसखान भली बिधि गैल लई।
कछु तो हिय पाय परो पल में पग पाव के पीर पहार भई॥

(४)

कोउ जटी कोउ दूर सजी फफलान की माल में जोर जवा को।
गुंज की ठौर गुही नरई नरई तिन्ह पूत सो ये तुम ताको॥
वा रसखान के साथ को खेलिबो छांड़िबो नांहि कितो जग थाको।
मंया छकी किन भैया छकी पै कन्हैया सो कौन बनैया हरा को॥

(५)

काहे को जात जसोमति के गृह पोच भली घर हू तो रई है।
मानस को डसिबो अपनों हंसिबो यह बात हु वां न नई है।।
बैरिन के दृग कोरनि में रसखान जो बात भई न भई है।
मांखन सोंचत लै यह क्यों वह माखन चोर की ओर गई है।।

(६)

जाहि लली मत वाकी गली तुम कों बिधि रूप अनूप दियो है।
लीजिये मान हो मेरो कहौ नरहौ सम बौरह बीत गयो है।।
माधव साथ जो खेलत है जिह जानहि सो वहि ठाठ नयो है।
माखन चोर हौ नंदकिसोर सो द्वै दिन ते चित चोर चयो है।।

(७)

मदिरा की माट केती भांग के सघन बन
कूट कूट मूट बन मूट हू कै वारिहैं।
तारी कै तलावा और सिंधुहू कै सातो सिंधु
पूजा के बिचार ते हजार हिये हारिहैं।।
कनक कहा है जहां सौंठ हिरदया से
काल कोटि बिच्छु नाग लागत बिचारि हैं।
काली कुल सकल समेत नागलोक सब
जमला के नींद पर वार वार डारिहैं।।

(८)

पच्छिम ओर उदय तो उदय रवि सिंधु पिपीलिका पेट समाई।
चांधरी सांच जुधिष्ठर के छल काली के कंठ अमीं छहराई।।
संग समूह हनै अजिया सुत फीकी परी बिख की बिखताई।
भीखम जुद्ध भजै तो भजै पर मेरे जमाल कै नींद न जाई।।

(९)

लंक के जुद्ध की दुंदुभी तैसे करोरक कान में आन बजावैं।
पौन को पूत पुकारि पुकारि गरो किनि फारि के हांक सुनावैं।।
मूसल धारन तें मेघवा अंखियान के ऊपर ही झरि लावैं।
ये अपनों बहुतेरो करैं पर मेरे जमालहि कौन जगावैं।।

(१०)

ललित रसीन पुंज मंजु मंजु मंजरी
गुंज गज गुंजरत मधुप मधु मंत कै।
तैसे रसखान मलिकान की लतान मिलि
मंद मंद बीहर बिभावरी के अंत कै।।
किंसुक की रूख लोक करिहैं सटूक टूक
कूक है अवूक कुल कोकिल अनंत कै।
अलियन गह्यो है कान्ह जैहे रे बिभर कहा
रहिहै दबर कछु खबर बसंत कै।।।

(११)

सिंधु समान जहान के बीच में सीप बिदीथ कै राज थली है।
साईं सेवाती को बूंद परो रस को रसखान की भांति भली है।।
नूर को नीर पड़ो तहं जाइ जहां अब्दुल्लह जी की गली है।
पारो बिचारो निहारौ सबै मिलि मोती मुहम्मद अन्त अली है।।

(१२)

करतार तुम्हैं एतो जोर दियो न कियो कोइ और समान बली।
छल कै जिन फेरो न मार को जात सो बांध लियो इबलीस छली।।
छूट गयो इफरीत तहाँ यह बात न जानत भांति भली।
दुख संकट गाढ़ परै जिह को तिह को रसखान सुहाइ अली।।

— — —

शेख़ अबुलफ़ैज़ फ़ैज़ी

'फ़ैज़'

६

शेख़ अबुलफ़ैज़ फ़ैज़ी 'फ़ैज़'

शेख़ अबुल फ़ैज़ 'फ़ैज़ी' को अरबी और फ़ारसी के प्रकाण्ड विद्वान् एवं कवि के रूप में सम्पूर्ण संसार जानता है। किन्तु फ़ैज़ी 'हिन्दी' के भी एक अच्छे कवि थे, यह सूचना हिन्दी के सामान्य पाठक के लिए एक नयी बात होगी। हस्तलिखित ग्रन्थों की **खोज रिपोर्टों** में फ़ैज़ी की हिन्दी रचनाओं की कोई चर्चा देखने में नहीं आती। डाक्टर सरयू प्रसाद अग्रवाल ने **'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि'** शीर्षक शोध-प्रबन्ध में अनेक विदित और अविदित कवियों का परिचय कराया है किन्तु उन्होंने भी फ़ैज़ी का उल्लेख हिन्दी कवि के रूप में नहीं किया है।

सरोजकार ने कवि संख्या ४९५ पर फ़ैज़ी की गणना हिन्दी कवि के रूप में की है। वे लिखते हैं–"फ़ैज़ी शेख़ अबुल फ़ैज़ नागौरी, शेख मुबारक के पुत्र सं० १५८० में उ०। इनको छोटे-बड़े सभी विद्वान् भली भांति जानते हैं कि यह अरबी, फ़ारसी और संस्कृत भाषा में महा निपुण थे। इनका ग्रन्थ भाषा का हमने नहीं पाया, केवल दोहरे मिले हैं। यह अकबर के दरबार के कवि थे।"[1]

---

१. डा० किशोरी लाल गुप्त, सरोज सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद १९६७ ई० पृ० ४४८

सरोजकार को फ़ैज़ी के दोहरे मिले थे, इसका उसने उल्लेख किया है किन्तु उदाहरण स्वरुप **सरोज** में फ़ैज़ी की कोई रचना भी प्रस्तुत नहीं की गई है। ग्रियर्सन ने भी कवि संख्या ११० पर फ़ैज़ी का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने भी फ़ैजी की कविता का कोई उदाहरण नहीं दिया है। **मिश्रबन्धु विनोद** और **दिग्विजय-भूषण** आदि ग्रन्थों में फ़ैज़ी का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

परिचय

शेख़ अबुल 'फ़ैज़' फ़ैज़ी अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् शेख़ मुबारक नागौरी के पुत्र थे। शेख़ मुबारक के पूर्वज 'यमन' से 'भारत' आये और 'सिन्ध' के 'रहल' नामक नगर में निवास करने लगे। दसवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में शेख़ मुबारक के पिता अपने परिवार वालों से मिलने के लिए भारत आये और यहीं के हो रहे। आपने 'रहल'[१] से कुछ फ़ासले पर "नागौर" नामक नगर में निवास ग्रहण किया।

सन् ९११ हिजरी में 'शेख़ मुबारक' का जन्म हुआ। बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त हो गया। विधवा माता ने नगर के एक सैयद साहब के यहाँ शेख़ मुबारक की शिक्षा का प्रबन्ध किया। ९ वर्ष की अवस्था में शेख़ ने अरबी और फ़ारसी में दक्षता प्राप्त कर ली। एक समय वह भी आया जब शेख़ को अकबर बादशाह का शिक्षक और गुरु होने का अवसर प्राप्त हुआ।[२]

शेख़ मुबारक के आठ लड़के थे। १—'फ़ैज़ी' अबुल फ़ैज़ २—अबुल फ़ज़्ल ३—अबुल बरकात ४—अबुल ख़ैर ५—अबुल कलाम ६—अबूतुराब ७—अबू हामिद ८—अबूराशिद।

शेख़ अबुल फ़ैज़ 'फ़ैज़ी' का जन्म ९५४ हिजरी (१५४७ ई०) में "अकबराबाद" (आगरा) में हुआ। १४ वर्ष की अवस्था में आपने अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। आपकी प्रसिद्धि अकबर तक पहुँची। सम्राट् अकबर विद्वानों का अत्यधिक आदर किया करता था। उसने सन् ९७४ हिजरी में "फ़ैज़ी" को बुलवाया। "फ़ैज़ी"

---

१. तज़केरह नताएजुल्अफ़कार में मौलवी कुदरत उल्लाह गोपामवी ने 'रहल' स्थान का नाम 'आमल' बताया है। (ले०)

२. वही पृष्ठ ४७३

दरबार में लाये गये। उन्हें चाँदी के कठघरे के बाहर खड़ा किया गया। इस पर उन्होंने उसी समय एक रुबाई रचकर बादशाह को सुनाई। रुबाई इस प्रकार है—

बादशाहा बेरून् पिंज्रह अम्। अज़ सरे लुत्फ़ खुद मरा जादह।
जांके मन तूतिए शकर खायम। जाए तूती दरून् पिंज्रह् बह।

(अनुवाद—ऐ सम्राट् मैं पिंजरे से बाहर हूं। कृपया मुझे अन्दर आने की अनुमति प्रदान करें। चूँकि मैं मधुर-भाषी और कवि-कोकिल हूँ, मुझ जैसे 'कोकिल' का पिंजरे के अन्दर ही स्थान उपयुक्त है।)

सम्राट् अकबर रुबाई सुनकर फड़क उठा और उसने फ़ैज़ी को कठघरे के अन्दर आने की अनुमति प्रदान कर दी। सन् ९९६ हिजरी में 'फ़ैज़ी' को **'मुल्क–उश-शुअरा'** की उपाधि से सम्मानित किया गया। यह उपाधि मुगल सम्राटों में अकबर ने 'ग़ज़ाली मशहदी' को, जहांगीर ने 'तालिब आमली' को और शाहजहाँ ने 'अबूतालिब कलीम' को प्रदान की थी। फ़ैज़ी की विद्वत्ता, साहित्यिक व्यक्तित्व और वाक्पटुता का सिक्का सम्राट् अकबर के हृदय पर शीघ्र ही जम गया।

सम्राट् अकबर के आश्रय में फ़ैज़ी की साहित्यिक प्रतिभा मुखरित हो उठी। उसने सम्पूर्ण क़ुरआन शरीफ़ की व्याख्या (तफ़सीर) अरबी भाषा में की[1] और केवल ऐसे अक्षरों का प्रयोग किया जिनमें नुक़्ते नहीं होते। इस व्याख्या ने फ़ैज़ी की ख्याति में चार चाँद लगा दिये।

सम्राट् अकबर के आदेशानुसार फ़ैज़ी ने **'नलदमन'** शीर्षक एक मसनवी लिखी जिसमें शेरों की संख्या साढ़े चार हजार है। गणित की प्रसिद्ध पुस्तक **'लीलावती'** का फ़ैज़ी ने फ़ारसी अनुवाद प्रस्तुत किया और इतना ही नहीं इस विद्वान् ने **जोग-वशिष्ट** और **'भगवद् गीता'** को भी फ़ारसी में अनूदित किया। अन्त में **'सुलेमान व बिलक़ीस'** और **'हफ़्त किशवर'** लिखकर फ़ैज़ी अमर हो गया। सन् १००४ हिजरी (१५९५ ई०) में कुल ४८ वर्ष की अवस्था में यह प्रकाण्ड विद्वान् संसार से उठ गया।

---

१. इस तफ़सीर का नाम "सवाते उल् इल्हाम्" है। यह जनवरी सन् १८८९ ई० में नवल किशोर प्रकाशन, लखनऊ से प्रकाशित हुई। फ़ैज़ी ने इसे १००२ हिजरी में लिखकर समाप्त किया।

हिन्दी काव्य रचना

मुझे हैदराबाद के 'कुतुबख़ानए आस्फ़िया' में एक अत्यधिक प्राचीन हस्तलिखित संग्रह ग्रन्थ में फ़ैज़ीकृत एक कवित्त दृष्टिगत हुआ है।[1] लिपिकार ने इस पर **'अज़मुल्ला फ़ैज़ी बेरादर अबुल फ़ज़्ल'** (फ़ैज़ीकृत जो अबुल फ़ज़ल के भाई थे) लिखकर इस संदेह की भी गुंजाइश समाप्त कर दी है कि यह कोई और 'फ़ैज़ी' हो सकते हैं। कवित्त की भाषा अत्यधिक परिष्कृत है। तदनन्तर मुझे जिज्ञासा हुई कि मैं फ़ैज़ी के और भी कवित्त अथवा दोहे तलाश करूँ। मैं हिन्दुस्तानी एकादमी की उर्दू त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' की पुरानी फाइलें उलट रहा था कि मुझे अक्तूबर सन् १९३७ ई० के अंक में **"हिन्दी ज़बान और मुसलमानों का तबअी-मैलान"** शीर्षक श्री मौलवी ताहिर मुहसिन काकोरवी का एक शोधपूर्ण लेख दृष्टिगत हुआ। विद्वान् लेखक ने फ़ैज़ी को हिन्दी कवि के रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु वह इस सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित दृष्टिकोण नहीं रख सका है। वह लिखता है—"अफ़सोस है कि छानबीन के बाद भी फ़ैज़ी का कलामे हिन्दी नहीं मिल सका। अलबत्तह एक बोसीदह वरक़ नुरुल्लुग़ात लाइब्रेरी में नेहायत ख़स्तह् हालत में नज़र पड़ा। उसके ऊपर सिर्फ़ इस क़दर पढ़ लिया जाता है **अज़ फ़ैयाज़ी अस्त**" (फ़ैयाज़ी कृत है) अगर इसको सही मान लिया जाय तो यह चन्द सतरें अलबत्तह दिलचस्पी से ख़ाली नहीं हैं।[2]

श्री मुहसिन काकोरवी ने जो 'कवित्त' और 'दोहा उद्धृत किया है उसकी भाषा फ़ैज़ी के हैदराबाद वाले कवित्त से भिन्न नहीं है। इसे फ़ैज़ीकृत मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस दोहे और कवित्त के प्रकाश में फ़ैज़ी को हिन्दी का एक अच्छा कवि स्वीकार करना होगा।

फ़ैज़ीकृत दोहे और कवित्त जो मुझे दो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त हुए हैं उनका वर्ण्य-विषय "मुग्धा" नायिका और 'बसन्त-ऋतु मुग्धा अवस्था'

---

१. मख़तूतात ४२५९, जदीद, कुतुब ख़ानए आस्फ़िया, हैदराबाद [आ०-प्र०] प्रस्तुत संग्रह ग्रन्थ में जिन कवियों की रचनाएँ मिलती हैं उनका उल्लेख रसखान पर लिखे गये लेख में कर दिया गया है।

२. हिन्दुस्तानी उर्दू से : माही, अक्टूबर सन् १९३७ ई०, पृ० ४७९

है। प्रस्तुत उपलब्ध सामग्री के प्रकाश में यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि 'फ़ैज़ी का 'नायिकाभेद' विषयक गंभीर अध्ययन था। बहुत सम्भव है कि फ़ैज़ी ने नायिकाभेद पर कोई ग्रन्थ भी रचा हो। इस दिशा में यदि प्रयास किया जाय तो फ़ैज़ी के अन्य कवित्त भी प्रकाश में आ सकेंगे। हिंदी में फ़ैज़ी की छाप सम्भवतः "फ़ैज़" थी। वसन्त ऋतु पर फ़ैज़ा का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

'कबित्त वसंत-ऋतु मुग्धा अवस्था'

कहूं-कहूं थोर-थोर पात गिरै रुखन तें,
कहूं-कहूं पातिन मैं आई पियराई है।
कहूं-कहूं सारी पीरी पातिन बिलोकित हैं,
कहूं-कहूं झरन की झर सी लगाई है।
कहूं-कहूं ठाड़े द्रुम देखियत दिगंबर से,
कहूं-कहूं कोउ-कोउ डार हरियाई है।
'फ़ैज़' यह बस होत पेखि-पेखि प्रान हाहा,
बेगि कहौ 'बीर' यह कौन ऋतु आई है।[1]

उक्त कवित्त के अन्तिम चरण में **'बीर'** शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे कवि का संकेत 'बीरबल' की ओर जान पड़ता है। हो सकता है, उक्त कवित्त **फ़ैज़** ने बीरबल को सम्बोधित करके ही कहा हो। एक सहृदय व्यक्ति अपने किसी सहृदय से ही इस प्रकार का प्रश्न कर सकता है। कवित्त भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर है। कहुँ कहुँ, थोर थोर, कोउ कोउ, पेखि पेखि की पदावृत्ति से जो सहज लयात्मकता आ गई है उसने कवित्त को बड़ा ही मधुर बना दिया है। फिर द्रुमों में दिगम्बर की कल्पना सर्वथा नवीन और मौलिक है।

'फ़ैजकृत' एक और कवित्त जो "हिन्दुस्तानी" में श्री मुहसिन काकोरवी ने उद्धृत किया है, इस प्रकार है—

---

१. मखतूतात ४२५६ जदीद, कुतुब खानह आसिफ़िया हैदराबाद, [आ० प्र०]

कबित्त 'मुग्धा'

आलस कै मुख जानै कौं पीय पियारी के प्रीति गये चल पागै।
छाय रहो हियरा दुख सों जब देखौ न ह्वाँ नन्दलाल सु भागै।
काहू सों लौं लहहू न कही मति स्याम न चित्त कहूँ अनुरागै।
खेलत खेल सहेलिन में पर खेल नवेली को जेल सो लागै ॥[1]

श्री काकोरवी ने फ़ैज़ीकृत एक दोहा भी उद्धृत किया है जिसके प्रकाश में यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कवि 'फ़ैज़' ने कवित्त और दोहे सभी कुछ रचे हैं। दोहा इस प्रकार है—

लख्यो न कंथ सहेत में तक्यो नखत गौर आइ।
नवल बाल को कँवल सो, गयो बदन कुम्हिलाइ ॥[2]

जो 'फ़ैज़ी' अरबी और फ़ारसी भाषाओं में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का लेखक हो और जिसमें सहज-बुद्धि और सर्जनात्मक प्रतिभा कल्पना से भी कहीं अधिक हो, हिन्दी में मात्र दो कवित्त और एक दोहा रचकर मौन नहीं धारण कर सकता, उसने निश्चय ही हिन्दी में किसी महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ की रचना की होगी। अतएव, इस सन्दर्भ में अध्ययन तथा अनुसंधान की पर्याप्त अपेक्षा है।

————

१. हिन्दुस्तानी उर्दू से माही, अक्तूबर सन् १९३७ ई०, पृ० ४८०
२. वही,

मीरज़ा रौशन ज़मीर
'नेही'

७

मीरज़ा रौशन ज़मीर 'नेही'

मीरज़ा रौशन ज़मीर नेही; सम्राट् औरंगज़ेब के समय के एक श्रेष्ठ हिन्दी कवि थे। मीरज़ा की जन्मभूमि ईरान थी, किन्तु ईरान से भारत आकर उन्होंने 'मसऊद इब्ने साद, अबू मआशर फ़लकी और अबू रीहान अल्बेरूनी की परंपराओं को इतिहास के पृष्ठों में एक बार पुनः उजागर कर दिया। सम्राट् औरंगज़ेब ने, जो स्वयं भी एक विद्वान् था तथा विद्वानों का आदर एवं सम्मान करना अपना परम कर्तव्य समझता था, मीरज़ा का स्वागत किया और उन्हें शाही मंसबदार नियुक्त किया। मीर गुलाम अली आज़ाद बिलग्रामी 'तज़केरः 'यदे बैज़ा' में लिखते हैं:—**ज़मीर इस्मश मीरज़ा रौशन ज़मीर बूदह् अज़ आली तबआने-ज़मानः व बलंद् फ़ित्रताने-यगानः अस्त दर ओह्दे-आलमगीर बादशाह् अज़ विलायते ईरान बे हिंदोस्तान आम्दः व दर सिल्के मंसबदाराने शाही इंतिज़ाम याफ़्तः।**"[1] अर्थात् ज़मीर नाम मीरज़ा रौशन ज़मीर का था जो अपने समय के उत्कृष्ट स्वभाव वाले व्यक्तियों में अद्वितीय थे। वे सम्राट आलमगीर (औरंगजेब) के समय में ईरान देश से भारत आये और शाही मंसबदारों की कोटि में नियुक्त हुए।

---

१. मीर गुलाम अली आज़ाद, यदे बैज़ा, हस्तलिखित, ज़खीरए अहसन ६२०/७ फ़ारसी, मु० वि० वि० अलीगढ़

औरंगजेब का आश्रय पाकर मीरज़ा रौशन ज़मीर की प्रतिभा और भी मुखरित हो उठी। मीरज़ा ने रुबाई छंद में सम्राट् की प्रशंसा में एक पद्य-बद्ध रचना लिखकर उसकी सेवा में प्रस्तुत की। औरंगजेब रूबाई पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने पुरस्कार-स्वरुप सात हज़ार रुपये मीरज़ा को प्रदान किये।[1]

काव्य तथा संगीत के प्रति 'नेही' का अनुराग

मीरज़ा ने संस्कृत तथा हिन्दी काव्य-शास्त्र का भी गंभीर अध्ययन किया था। संगीत में तो वे इतने प्रवीण थे कि उनके सामने बड़े से बड़ा कलावंत भी तुच्छ दिखाई पड़ता था। श्री शेरखाँ लोदी **'मिरातुलख़याल'** में लिखते हैं– "हिन्दीके ज्ञान-क्षेत्र में इस विद्या के प्रामाणिक विद्वानों के मतानुसार भारत के विद्वान् प्राय: उनके सामने पीठ दिखा दिया करते थे और बड़ी आशाएँ लेकर उनके समक्ष आते थे। संगीत के चौदह हज़ार रागों पर उन्हें अधिकार था जिनमें से बहुत से रागों का उल्लेख उन्होंने अपनी अरबी, फ़ारसी और हिन्दी की कृतियों में किया है।"[2]

मीरज़ा ने संगीत-शास्त्र का केवल अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि अनेक ग्रन्थों को फ़ारसी में अनूदित भी किया था। मीरज़ा द्वारा किये गये अहोबलकृत **'संगीत पारिजात'** के फ़ारसी अनुवाद का उल्लेख मीर आज़ाद बिलग्रामी ने इन शब्दों में किया है–**"तरजुमा पारजातक दर फ़ने नग़माते हिन्दी अज़ ऊस्त।"**[3] अर्थात् हिन्दी (भारतीय) संगीत के ग्रन्थ 'पारिजात' का अनुवाद उनके (मीरज़ा) द्वारा हुआ।" मेरी दृष्टि से उक्त अनुवाद की तीन प्रतियाँ गुज़री हैं जिनमें एक मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी, मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ में है, दूसरी आसफ़िय: पुस्तकालय हैदराबाद, आंध्र प्रदेश में और तीसरी रज़ा स्टेट लाइब्रेरी, रामपुर में। मीरज़ा ने प्रस्तुत अनुवाद में विभिन्न हिन्दी रागों के उदाहरण-स्वरूप अपनी रचनाएँ उद्धृत की हैं।

---

१. शेरखाँ लोदी, मिरातुल ख़याल, सन् १८३१ ई०, पृ० २२६ **हिन्दी के वे लेखक जो आलमगीर को संगीत और काव्य का शत्रु बताते हैं उन्हें इस प्रसंग पर विशेष रुप से ध्यान देना चाहिए।**

२. मिरातुल ख़याल, पृ० २२८

३. **यदे बैज़ा, हस्तलिखित, ज़खीरए अहसन ६२०/७; फ़ारसी, मु० वि० वि०, अलीगढ़**

हिन्दी-कविता में मीरज़ा का उपनाम

फ़ारसी में मीरज़ा का तख़ल्लुस 'ज़मीर' था, किन्तु हिन्दी में उन्होंने 'नेही' के उपनाम से कविता की है। नस्तालीक़ लिपि में लिखे हुए 'नेही' शब्द को कतिपय उर्दू लेखक 'पंथी' पढ़ गये हैं। गोपाल चन्द्र सिंह भी नेही' को 'पथी या पथी पढ़ गये हैं और उनके संगीत विषयक ग्रन्थ का नाम उन्होंने भूल से 'यारजातक, पढ़ लिया है और यह विचार व्यक्त किया है कि यह पता नहीं कि 'यारजातक' कौन सा ग्रन्थ था और उसमें क्या लिखा था।[1] मीरज़ा के 'नेही' उपनाम का उल्लेख मीर आज़ाद बिलग्रामी ने किया है और फिर संग्रह-ग्रन्थों में मीरज़ा की जो रचनाएँ मिलती हैं, उनमें भी उनका उपनाम 'नेही' मिलता है। औरंगजेब के समय में 'पन्थी' उपनाम के एक अन्य मुसलमान कवि हुए हैं जो पेमी बिलग्रामी के भक्तों में थे और जिनका उल्लेख मीर हमज़ा ने अपने फ़ारसी ग्रन्थ 'काशिफ़ुल्अस्तार' में किया है।[2] मीरज़ा का उपनाम 'पंथी' नहीं था।

काव्य-ग्रन्थ

मीरज़ा 'नेही' यदि एक ओर एक सफल शृंगारी कवि थे तो दूसरी ओर एक भक्त भी थे। मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी मुस्लिम यूनीवर्सिटी अलीगढ़ में उनके काव्य-ग्रन्थ की दो दुर्लभ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। दुर्भाग्य से ये दोनों प्रतियाँ अपूर्ण हैं। किसी भी प्रति पर ग्रन्थ के नाम का उल्लेख नहीं है। छन्दों के क्रम को देखकर इतना सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने सम्पूर्ण-ग्रन्थ रचा होगा। स्वयं 'नेही' ने भी उक्त ग्रन्थ के एक छन्द में इस ओर संकेत किया है। छन्द इस प्रकार है—

नख सिख बरनि बनायो है ग्रंथ यह,
सुख उपजावन सिंगार रस भीनो है।
कोमल मधुर सुधे आखरन मद्ध 'नेही'
है प्रसाद गुन फुन अरथ नवीनो है।

---

१. हिन्दी अनुशीलन, जुलाई-सितम्बर १९५५ ई०, वर्ष ८, अंक ३, पृ० १११
२. मीर हमज़ा, काशिफ़ुल अस्तार, हस्तलिखित, अब्दुस्सलाम ९१३/१८ मु० वि० वि० अलीगढ़।

तापर लच्छन लिखि कियो है महा कठिन,
नयी रचना है रचिबे को चित्त दीनो है।
गूढ़हि सुगम लोग करत हैं टीका करि,
मैं बक्र टीका करि सुगमही गूढ़ कीनो है ॥[1]

उपर्युक्त छन्द के प्रकाश में कई बातें स्पष्ट हो जाती है—

(१) नख-सिख बरनन नामक ग्रन्थ की रचना की गई है जो शृंगार रस से युक्त और सुखदायक है।

(२) कोमल मधुर और सहज शब्दावली का चयन किया गया है जिसके कारण रचना में प्रसाद गुण पाया जाता है। भावों में नवीनता और मौलिकता है।

(३) ग्रन्थ में आचार्यत्व प्रदर्शन का प्रयत्न है और चूँकि पहला प्रयास है, इसलिए बड़ी लगन के साथ लिखा गया है।

(४) वक्रोक्ति और उक्ति-वैचित्र्य की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में कवि का एक और छन्द भी द्रष्टव्य है—

टीकन सहित या ग्रन्थ के कबित्तन को,
कहत जथारथहू होत है बड़ाइये।
आखर सुढार मोती तिन्ह में अरथ जोती,
सगरी अबेध कौन कौन गुन गाइये।
अद्भुत सीढ़ी जाको चढ़िबो उतरिबो है,
उतरत 'नेही' चढ़िबे को फल पाइये।
बीना की सी सारीं सब पंकति रही हैं बन,
धुन ऊँची होत जात ज्यों ज्यों नीचे आइये ॥[2]

उक्त छंद में कवि के संगीत-प्रेम तथा काव्य शास्त्र में उसकी गहरी पैठ का पता चलता है।

---

१. नेही, नख-सिख बरनन, २८
२. वही, २९

'नेही' के प्रस्तुत ग्रन्थ की दोनों उपलब्ध प्रतियाँ नस्तालीक़ लिपि में हैं। इनमें से एक प्रति उनके समय की ही लिखी हुई जान पड़ती है। इस प्रति के अन्त में रूह खां खानःदार आलमगीर शाह की मुहर लगी हुई है। 'नेही' के स्फुट कवित्त भी अनेक संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। ये स्फुट कवित्त अधिकतर वे ही हैं जो इस ग्रन्थ में मौजूद हैं। कुछेक ऐसे छंद भी मिले हैं जो ग्रन्थ में नहीं पाये जाते। लेखक ने नस्तालीक़ लिपि में लिखी हुई 'नेही' की उक्त रचनाओं का नागरीलिपि में संकलन एवं सम्पादन किया है जिसे लेख के अन्त में दे दिया गया है। कवि के शब्दों में उसका यह ग्रन्थ आद्योपान्त शृंगार रस का ग्रन्थ है। 'नेही' जैसे प्रकाण्ड विद्वान्, कवि तथा संगीताचार्य पर अभी शोध की पर्याप्त गुंजाइश है।

'नेही' की धार्मिक सहिष्णुता

'नेही' मुसलमान होने के बावजूद भारतीय देवी-देवताओं के प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। उन्होंने सम्भवतः वेदों और पुराणों का भी अध्ययन किया था। वेदों और पुराणों का उल्लेख उनकी रचनाओं में पाया जाता है। परमेश्वर की स्तुति में उनका एक छन्द देखिए—

अलख अमूरत निरंजन है निराकर,
ताकों नाहिं जानों कौन भाँति लहियत हैं।
असन बसन भौन तज कीजियत गौन,
साधियत पौन अंत मौन गहियत हैं।
लह्यो तिन्ह कह्यो नाँहि, कह्यो तिन्ह लह्यो नाँहि,
बेदन पुरानन में 'नेही' कहियत हैं।
ऐसें सुन बातें कैसें ध्यान कियो जाय तातें,
लेखि लेखि नांव देखि देखि रहियत हैं॥[1]

उस परमेश्वर को मुसलमान, हिन्दू, तुर्क और बौद्ध सभी देखने और प्राप्त करने के लिए लालायित हैं, किन्तु 'नेही' की दृष्टि में उसको न तो अलख कहने वाले ही 'लख' सके और न अलह (अल्लाह) कहने वाले हो 'लह' (लब्ध-प्राप्त) सके—

---

१. नेही, नख-सिख बरनन, १

नाना मत ठान के मुसलमान उनमान,
आन आन मन आनि आनि कै थकत हैं।
हिन्दुवौ बिचार कर हारे बाह रे बिचारे,
न्यारे न्यारे करके तुरक तरकत हैं।
बुद्ध ही बतावैं कौन भेदैं गहौ मौन,
बाद जे करत ते ते बाद ही बिकत हैं।
अलख जे कहत तेउ लख न सकत 'नेही',
अलह जे कहत तेऊ लह न सकत हैं ॥[१]

'नेही' भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रेमी थे। सम्राट् औरंगजेब के दान की प्रशंसा करते समय वे फ़ारसी परम्पराओं का पालन नहीं करते। उनकी दृष्टि लक्ष्मी के चरणों पर जाकर ठहर जाती है और वह कह उठते हैं—

"दानसिन्धु तूँ तरंग दीबो है तरंग तेरे,
लच्छमी ने तौ तैं जग में सरीर पायो है।"[२]

उक्त चरण के प्रकाश में 'नेही' का स्वच्छ हृदय देखा जा सकता है।

'नेही' और भारतीय काव्य-परम्परा

फ़ारसी काव्य-परम्परा से सम्बद्ध अनेक हिन्दी कवियों ने नखशिख वर्णन के स्थान पर शिखनख' (सरापा) वर्णन किया है। शिखनख-वर्णन को हम भारतीय परम्परा के अन्तर्गत नहीं रख सकते। शिखनख-वर्णन में राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति भावना की तलाश करना एक बड़ी भूल है। सामान्यतया शिखनख वर्णन का कृष्ण कोई भी नायक और राधा कोई भी नायिका हुआ करती है। किन्तु यदि कोई कवि शिखनख का वर्णन न कर 'नखशिख' वर्णन करता है तो हमें उसके हृदय की ओट में छिपी हुई भक्ति भावना को ढूँढ़ निकालने में विलम्ब भी नहीं करना चाहिए। श्रद्धा से सनी हुई भक्त की आँखे पहले देवी विशेष के चरणों पर ही पड़ेंगी। 'नेही' ने इसी कारण नखशिख-वर्णन में पहले पग वर्णन किया है जो भारतीय परम्परा के अनुकूल है।

---

१. नेही, नख-सिख बरनन, २
२. वही, ३

'नेही' का मृत्यु संवत्

शेर खाँ लोदी ने **'मिरातुल ख़याल'** में 'नेही' का मृत्यु संवत् सन् १०६७ हि० (१६५६ ई०) उद्धृत किया है,[१] किन्तु डा० अमीर हसन आबिदी ने उनकी मृत्यु तिथि १०७७ हिजरी (१६६६ ई०) बतायी है।[२] डा० आबिदी ने अपने मूल स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। बहुत सम्भव है कि वह सन् १०६७ हि० को ही भूल से १०७७ हि० लिख गये हों। हम **'मिरातुल ख़याल'** की तिथि को ही प्रामाणिक स्वीकार करते हैं।

काव्य-सौन्दर्य

'नेही' जिनकी मातृभाषा फ़ारसी थी और जिन्होंने पहले फ़ारसी काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था, अपनी हिन्दी रचनाओं में फ़ारसी के तत्सम शब्दों की बात तो जाने दीजिए, तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हुए भी हिचकते हैं। फिर भी उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पर जो कतिपय फ़ारसी शब्द मिलते हैं, वे ब्रजभाषा की अपनी संपत्ति जान पड़ते हैं, जैसे—खुमार, चिक, गुमान, हुका (हुक़्क़ा), राजी, रंगरेज, बखियाँ, बाजी बरफ, साह, सक इत्यादि। फ़ारसी की तत्सम शब्दावली का प्रयोग 'नेही' के निकट संभवतः हिन्दी काव्य-रचना के प्रयोजन का गला घोटना था। शायद इसीलिए 'नेही' ने अपनी भाषा को मुहावरों और लोकोक्तियों से अलंकृत किया है। हाथों हाथ बिकाना, लौन छिड़कना, लाले पड़ना, गाँठ बाँधना, दूर के ढोल सुहावने त्रासन मरना, पाँव पड़ना, अधरों पर उँगली धरना, नखों से भूमि कुरेदना, हाथ पर ठोढ़ी दे रहना, दाँतों से जीभ दाबना, छक-छक पड़ना, पीछे लगना, सिर चढ़ना इत्यादि मुहावरों के प्रयोग 'नेही' के काव्य में प्रायः मिल जायेंगे। 'नेही कृत एक कवित्त यहाँ उद्धृत किया जाता है जिसमें कवि ने मुहावरों की झड़ी सी लगा दी है—

डाहन मरत बैठीं झूरिबो करत सौतीं,
तन क्षीण होत मन के सो जानै मनहीं।
आँगुरिन निरख अधर आँगुरी धरत है,
नखन निरख भूमि छोलत नखनहीं।

---

१. शेरख़ाँ लोदी, मिरातुल ख़याल, पृ० २२८
२. फ़िक्रो नजर उर्दू त्रैमासिक, अलीगढ़, जरवरी १९६३ ई०, पृ० ९९

एड़ीन तक कर पै ठोढ़ीन दै रहत.
तरवन लख जीभ दाबत दसनहीं।
'नेहीं' फूली आँगन मैं डोलत हैं बोलत हैं,
देखि प्रान पावत हैं पगन तें पनहीं॥[१]

मुहावरों का इतना सहज और स्वाभाविक प्रयोग हिन्दी कवियों के यहाँ कठिनाई से मिलेगा। नेही संगीताचार्य तो थे ही। स्वर के आरोह अवरोह के अनुरूप शब्दों को लय और गति देना वे जानते थे। परम्परागत मधुरा भक्ति से प्रेरणा ग्रहण करके मौलिक भाव चित्रों को रुपायित करना उन्हें आता था। लाक्षणिक एवं खरादी हुई काव्य भाषा को छन्दों के लालित्य तथा अलंकारों के वैविध्यपूर्ण सहज प्रयोग से स्वच्छ भावाभिव्यंजना प्रदान करने की कला से वे परिचित थे। रूढ़िगत अप्रस्तुतों को कथन की नूतन भंगिमाओं में रखकर उपमानों को जीवन्त बना देना उनके लिए सहज था।

नेही ने नखसिख के अन्तर्गत शरीर के विभिन्न अवयवों के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं उनमें कवि की कलात्मक अनुभूति की अच्छी झलक मिलती है। सिंधु को मथकर देवताओं ने उसमें से चन्द्रमा निकाला और चन्द्रमा को मथकर उसमें से नायिका के नखों को निकाला और चीर के कल्पतरु से उँगुलियों की कोपलें निकालीं। हथेली दल को कमला के हृदय कुंज स्वरूप प्रस्तुत किया। त्रिभुवन नाथ भी उन हाथों के सौन्दर्य को देखकर उन्हीं के हाथ बिक जायेंगे—

सिंधु मथ ससि ससि मथ नख वाके 'नेही',
काढ़े है सुरनि कहीं कबि पतियाइहौ।
चीर के कलपतरु को पैं आँगुरी निकारैं,
मान हू ते जो (पै) मन चितै फल पाइहौ।
'कमला के हृदय' कुंज दल के हथेरी कीने,
तापर भँवर भये 'भाँवरैं' कहाइहौं।
हौ तू त्रिभुवन नाथ देखिहौं पै कैसे तुम्ह,
हाथ निरखत तिय हाथन बिकाइहौ।

---

१. नेही, नख-सिख बरनन, ७

नायिका के सुन्दर मुख पर स्रष्टा ने अपने नाम को थापकर नासिका रूपी प्रतिमा स्थापित की है जिसे भौहें दण्डवत करती हैं, अधरों ने उसपर चढ़ाने के लिए हाथों में सिंदूर ले रखा है, युगल कपोल आसन जमाकर बैठे हुए हैं, दृग समाधिस्थ स्थिति में हैं। इस प्रकार उसकी नासिका के आस पास पूजा, ध्यान और जप नित्य प्रति होता रहता है—

करत डंडवत भौहैं देखिय टेढ़ी 'नेही',
सेंदुर लियो है तातें ओठन ललाई है।
कर डिढ़ आसन जुगल गाल बैठे ढिग,
झपक-झपक पल दृगन लौ लाई है।
आस पास पूजा ध्यान जप होत रहै नित,
निरख-निरख मेरे मन यह आई है।
कामिनी के बदन सदन ताहि करतार,
नाक नाम थाप रूप प्रतिमा बनाई है॥

मानिनी नायिका के मान का वर्णन करते हुए उसे मान रूपी गुरु के विद्यार्थी के रूप में प्रस्तुत करके कवि ने अपनी मौलिक कल्पना शक्ति का सुन्दर परिचय दिया है—

जे जे हैं सयानी नारि ते ते तेरें चटसारि,
पोथी 'नेही' कहत पढ़त हैं सयान की।
सीखत हैं प्रेम पूर पच्छ के प्रकार तो पैं,
बूझत हिये तो पुनि बिधि समाधान की।
बाबन अच्छ उच्चरन काज तुव मुख जीभ,
रूप प्रगटी है यह सकति बखान की।
समय कैं बिसार सब घूघट निकार अब,
प्यारी तौं बिद्यारथी भई है गुरु मान की॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नेही' एक प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। उनके कवित्त और सवैयों में भाव और अभिव्यक्ति की अन्तरंगता के फलस्वरूप सजीवता के दर्शन होते हैं। उनकी कविता उच्च स्तर की है। ईरान से भारत आकर यहीं की भाषा सीखकर उस भाषा में इस कोटि की रचना करने वाले कवि हिन्दी में दुर्लभ हैं। इस दृष्टि से नेही अपूर्व महत्व के भागी हैं।

नख-सिख बरनन

मंगलाचरन

अलख अमूरत निरंजन है निराकार,
ताकों नाँहि जानौं कौन भाँति लहियत है।
असन बसन भौन तज कीजियत गौन,
साधियत पौन अंत मौन गहियत है।
लह्यो तिन्ह कह्यो नाँहि कह्यो तिन्ह लह्यो नाँहि,
बेदन पुरानन में 'नेही' कहियत हैं।
ऐसें सुन बातें कैसे ध्यान कियो जाय तातें
लेख लेख नाँव देख देख रहियत है ॥१॥

फुन मंगलाचरन

नाना मत ठान के मुसलमान उन्मान,
आन आन मन आनि आनि कै थकत हैं।
हिंदुऔ बिचार कर हारे बाहरे बिचारे,
न्यारे न्यारे करके तुरक तरकत हैं।
बुद्ध ही बतावै कौन भेदैं गहौ मौन,
बाद जे करत ते तो बाद ही बिकत हैं।
अलख जे कहत तेऊ लखि न सकत 'नेही',
अलह जे कहत तेउ लहि न सकत हैं ॥२॥

शाह आलमगीर को दान बरनन

दानसिंधु तूँ तरंग दीबो है तरंग तेरे,
लच्छमी नें तौ तें जग में सरीर पायो है।
कुंभ सीप मुक्त भरे तबै गज विकसत,
छित चहुँ फेर तेरोई सुजस गायो है।
त्याग तेगबली ओरंगजेब बलबंड दानी,
खरग तेरें ग्रर आइ आइ कै कहायो है।
चेरी चेरो बाँको देत खाइबो मसूर याको,
डोरिया को अरनि जनेऊ पहिरायो है ॥३॥

खरग बरनन

अनल के सिखा की है किधौं जम की है बाँह,
मूठ में लपेटी किधौं पतिया है जीत की।
क्रोध की घटा है कि तड़िक की प्रताप,
सूरता की है किरन कि धजा है राजनीत की।
रुद्र के समुद्र की है लहर कि है कराचोली,
महाबली औरंगजेब जस जीत की।
ताकी फुल धार डोर मुंडमाल की है किधौं,
काल हार मान लीक खैंची है प्रतीत की ॥४॥

प्रताप बरनन

औरंगजेब साह सहजै चढ़त प्रताप तेरें,
सोच सोच लोग त्रियलोक के डरत हैं।
लेत हैं सरन बन घरन को छाड़ तोऊ,
त्रियन सहित सत्रु त्रासन मरत हैं।
पियन के कर पर काँपे कर तिय के,
कियों हौ कर 'नेही' पग डग जो भरत हैं।
ठाढ़ी ह्वै रहत हैं नितंब भार हार हार,
तातें बार-बार बार पायन परत हैं ॥५॥

रूप बरनन

नैन कीन 'बहुजीभ' बरुनी के बारन ज्यों,
कहा कोउ तिय रूप बरनिबो ठानि है।
जीभ तो निबाहैं नैन बकिबो करत बैन,
दरस्यो हैं नहिन बिचारी कहा जानि है।
अस्तुति कै को चलावै कही नाँहि जात जात,
जो सुकबि है सुबात यहै मन आनि है।
सीसहि विधाता जैसें चच्छु श्रवा 'कीनो 'नेही',
तैसे जीभ चच्छु करैं तू भले बखानि है ॥६॥

पग बरनन

डाहन मरत बैठी झूरिबो करत सौतीं,
तन छीन होत मन के सो जानै मनहीं।

आँगुरीन निरख अधर आँगुरी 'धरत हैं',
नखन निरख भूमि छोलत नखनहीं।
एड़ीन तक कर पर ठोढ़ी दै 'रहत' थक,
तरवन लख जीभ दाबत दसनहीं।
'नेही' फूली आँगन में डोलत हैं बोलत हैं,
देख प्रान पावत हैं पगन तें पनहीं ॥७॥

जंघा बरनन

कदली बिचारो दिल पाँखन फरक 'हार्‌यो',
कूद-कूद थके सूँड गज मूँड पर तें।
'हंस लगें गुन भरे रस रूप भरे जंघा,
'सभन' तें आगें भये डग एक भर तें।
कबिन के हाथ एक करभ लग्यो है 'नेही',
सोऊ सोभा पावत है याके पटतर तें।
यह उपमां बिचार रति समें आवे 'जीअ',
करभ ज्यों कियों हों न्यारी कीजिये न कर तें ॥८॥

कटि बरनन

सुनियत कटि 'सोहै' सूछम निपट 'नेही',
प्रकट दरस कहाँ सपने न पेखिए।
पच हारे हैं बिचारे चतुर चितेरे 'सब',
वाको यहै चित्र अहै जो कछू न लेखिए।
कहा सो संदेह नाँहि देह में सदेह नाँहि,
कर उनमान तातें मन अवरेखिए।
मूठी गहि के बनाइ गहि रह्यो ललचाइ,
बिधि ही न 'देख्यो' जाइ कौन बिधि देखिए ॥९॥

कुच बरनन

देख काहू के न कछु करत सकुच कुच,
सरबस लेत 'नेही' देखतें चुराइए।
कान्ह तो लटूकरी लगावें इहैं हाथ कौन,
कपटी कठोर हैं ठगन के सुभाइए।

बित थोरी है बहुत ओछे 'कोऊ जान तौ न',
जोबन अमूल नग सहजैं ही पाइए।
गाँठ बाँध कस आइ छाती मूम में निकस,
भये बट पार कैसें 'होंहि' न कहाइए ॥१०॥

बाँह बरनन

गोरी गोरी गोल गोल भामिनी की बाँह 'नेही'
रूप रस दोऊ सान बिधनाँ बनाइ है।
चलत हिलत कोटि कोटि प्रान दान देत,
सुधा की लहर पटतर तातैं पाई है।
कान्ह काम मूरत के काँधे पर जब 'होइ'
तब कहीं पुहुप कमान ही चढ़ाई है।
ताकी उपमां न कीनी है कबिन मेरे जान,
याही तें मृनाल नारि लाजन निवाई है ॥११॥

हाथ बरनन

सिंधु मथ ससि ससि मथ नख वाके 'नेही',
काढ़े है सुरनि कहीं कबि पतियाइहौ।
चीर के कलपतरु को पें आँगुरी निकारें,
मान हू ते जो (पै) मन चितें फल पाइहौ।
'कमला के हृदय' कुंज दल के हथेरी कीने,
तापर भँवर भये 'भाँवरें' कहाइहौं।
हौ तू त्रिभुवन नाथ देखिहौं पै कैसे तुम्ह,
हाथ निरखत तिय हाथन बिकाइहौ ॥१२॥

ग्रीवाँ बरनन

देखें मन चाहै इंद्र पें सहस नैन माँग।
दै दै गाँठ डोरिन कँवल माल कोहिये।
'जीय गहि कियों' रेखा गुन ही सों 'पूतरी को',
रहैं नित कंठ ऐसो पूत छरा पोहिये।
ढाकत है जेतो तेतो दूखन लगावत है,
मोतिन को हार सो न भूखन ह्वै सोहिये।

'नेही' संख कहौगे कहत हौं निसंख रीझें,
नेह खेल के खिलार तिय नाहि जोहिये ॥१३॥

फुन ग्रीवाँ बरनन

देखें देखि हूजो नैन गहिहै पतंग गति,
जौ लौं नाहि देखी तौ ही लौं कुसल क्षेम है ।
बेनी आगे दियें नित राखत लहत दुति,
दियें नाग बैर (ऐसे) रतन में पेम है ।
नेह भरी जोत भरी सोभित जगमगाति,
कहाँ लौं बरनौं निकाइ कियों नेम है ।
वाहि कियो जारीं हिय देखत सिंगार रस,
ग्रीवाँ नाहिं, 'नेही' रूप दीपक के टेम है ॥१४॥

चिबुक बरनन

रोम-रोम भेद बेस बारी फुलवारी कीनी,
अब रोमराजी पर झरना लौन झर्‌यो है ।
जोबन समुद्र उमड़ आइ कुच घट पूरे,
कामहीं बिचारें तरिबे को 'लालो' पर्‌यो है ।
त्रिबली नदी बढ़ाइ नाभि 'सर' भँवर पारैं,
निघट्यो नेह अद्‌भुत बिधि कर्‌यो है ।
रहत अधोमुख सदा तोऊ निरख 'नेही',
प्यारी को चिबुक को रूप जल भर्‌यो है ॥१५॥

अधर बरनन

साँवन की साँझ जैसे फूल हैं हँसत तकि,
आनन में अधर के दौरत ललाई है ।
उपज बिकार तासों नाम मध आइ 'नेही',
बिद्रुम बंधूक बिंब दीनी अरुनाई है ।
जाने ये न लाल के रंगे हैं नैन कौन बिधि,
अधर न 'होइ' मेरे मन यह आई है ।
जोबन अबर लै मर्दन के भरी है फेंट,
बिधि रंगरेज रूप रैनी कै चढ़ाई है ॥१६॥

दसन बरनन

भामिनी के हँसत दसन आगे मोतिन के,
सीप ही मैं रहैं जोति ठहर रहत है।
हीरन को राखत है खान ही महत मान,
मत कोऊ काढ़ै 'नेही' मत यौं कहत है।
दामिनि के ढोल तो सुहावने हैं दूर ही के,
घन मैं दुरे हैं उपमा नहीं गहत है।
दारिम बिकस कै हँसावत है आपुन पौ,
जानत न बँधें मूठी लाखन लहत है ॥१७॥

नासिका बरनन

करत डंडवत भौहें देखिय टेढ़ी 'नेही',
सेंदुर लियो है तातें ओठन ललाई है।
कर डिढ़ आसन जुगल गाल बैठे ढिग,
झपक-झपक पल दृगन लौ लाई है।
आस पास पूजा ध्यान जप होत रहै नित,
निरख-निरख मेरे मन यह आई है।
कामिनी के बदन सदन ताहि करतार,
नाक नाम थाप रूप प्रतिमा बनाई है ॥१८॥

नैन बरनन

बड़े रिझवार रूप पानिप अपार भरे,
दुहूँ अलि कुंज कै प्रकृति मानो लीनी है।
रीझ बस परत रिझाई बस करत हैं,
फुन इन चंचलन मीन छबि छीनी है।
करता बनाइये ये चपल चख छक 'नेही',
बची है निकाई कछू सोऊ सब दीनी है।
और कहाँ देखिहैं न देखिहैं परस्पर जो,
मेरे जान यह सोच नासा ओट कीनी है ॥१९॥

भौंह बरनन

चढ़त बिना पुंज कौतुक निहारो बल,
ऐसे और कहाँ चतुर उन लेखिय हैं।

तान तान राखे हैं अनेक अनियारे थाल,
आरा जिमि याही तें कटीली पेखियत हैं ।
सर सूधे छूटिबे को टीक लग फूटिबे को,
'नेही' पिय सूधे तें फिरी बिसेखियत हैं ।
काम बाँह कामिनी की नासा है कमान भौंह,
मूँठ मैं गही हैं मूठ नाँह देखियत हैं ।।२०।।

स्रवन बरनन

कब ऐसी छवि होत मोती में छिपत तातें,
को कहै सुधार रेंग्यो जात है हरें हरें ।
सुंदरता इहाँ लौं विचित्र तियहू के चख,
कनखिन लख लख छकि छकि कै ढरें ।
'लालो परयो पलकें बिकुल भई हैं याते,
जिन हमैं छाँड़ उनही की पलकें गरें ।
'नेही' और कहा कहौं वै स्रवन सीप देख,
बूँद ह्वै हमारे नैन चाहत हैं चुइ परें ।।२१।।

ललाट बरनन

भर चुरो सुधा लै सँवार्यो है ललाट तिय,
न्याइ लोग चाहिबे के चाहन मरत है ।
घटत कि बढ़त हैं दूहन बिधि,
जिहैं कला सम होइ ससि न धरत है ।
कौन निरखें उघाइ बेर बेर देखो जाइ,
निकसत नाहिं प्रतिबिंब जो परत है ।
'नेही' हम कहा कम या अनूप दर्पन को,
नासा मूठ मूठ गहि देखिबो करत हैं ।।२२।।

तिलक माँग जुत बरनन

पंचसर सुर को है भाल लाल रूहिर तें,
भाल को तिलक जो हरत सुधि स्याम की ।
इत उत भये बेधिबे-ही को सकच कच,
ताकों मांग कहत हैं तिय अभिराम की ।

ऊँचे करतार नेक नेकिन निहार 'नेही',
अंजन के पंच है कमान भौंह बाम को।
मूठ मैं गही है तातें मूठ देखियत नाहिं,
गाँठ कुहनी है नासिका है बाँह काम की ॥२३॥

माँग बरनन

बारन में माँग सोहै उपमा कहै सो को है,
तातें एक में हीं पच कै बिचार कीनो है।
बदन सरोवर मैं गाल के कडोरी सोत,
नित रूप जल बढ़ै जोबन नवीनो है।
तिन्ह जल भर के सरोवर उच्छर जुग,
कान कुंड औ छिबुक कूप पूर लीनी है।
बहि प्रवाह उपट जो चल्यो मैन माली ताहि,
'नेही' लै सिंगार बारी मांहि काट दीनो है ॥२४॥

बेनी बरनन

पोच पोच बदन रोमावली तें बढ़ 'चली',
परसत पाइ अब और कहा बढ़िहै।
लाज 'पाछें परी की परी है तुम्हें तातें,
यासों करत हौ नेह कौन मंत्र पढ़िहै।
बनितानहूँ के मान बढ़िबे को तोऊ बेनी,
लटन तें 'साँकरी' गढ़ी है और गढ़िहै।
बार बार जूड़ो दै चढ़ावत हौ सिर याहि,
काल्ह सुनिहौ जो कोऊ याके सिर चढ़िहै ॥२५॥

फुन बेनी बरनन

जूरो दें पूरो रूप 'गहत' है कुंडरी को,
गारी दै गयी जो औचकान निरख डरी है।
दादुर तो भच्छक समुझि मोर भक्ख जान,
'सोर करके' सताइ 'नेही' 'सुध' हरी है।
कुच गेंद 'के' खिलैया 'कारे नाग' भ्रम भूलि 'कहा,
कीजै दैया' गहिबे की पेच करी है।

आबत है पाछें लग्यो लोग कहैं पाछें पर्यो,
कान्ह कहा पाछें परे बेनी पीछे परी है ।।२६।।

सुगन्ध बरनन

याहि लग पौन जब मंद कौन गहै तब,
पाँखुरी हिलावै फूल पाख ज्यों उड़न कों।
उठ धावें अलि कर मींडत कँवल दल,
कीजे कौन छल अब संगहि गहन कों।
रजहि करैं पराग सो सुमेर भक्ख नाग,
चंदन को बासै जिमि हार आन धन कों।
गहैं साँस कहा साँस खींचिबो न छूटै 'नेही',
ऐसी है सुगंधता या पदमिनी के तन कों ।।२७।।

(ग्रन्थ वर्णन)

नख-सिख बरनि बनायो हैं ग्रंथ यह,
सुख उपजावन सिंगार रस भीनो है।
कोमल मधुर सूधे आखरन मध 'नेही',
है प्रसाद गुन फुन अरथ नवीनो है।
तापर लखन लिख कियो है महा कठिन,
नई रचना है रचिबे को चित्तदीनो है।
गूढ़ ही सुगम लोग करत हैं टीका कर,
मैं बक्र टीका सुगम ही गूढ़ कीनो है ।।२८।।

(पुनः ग्रन्थ-वर्णन)

टीकन सहित या ग्रन्थ के कबित्तन को,
कहत जथारथ हूँ होत है बड़ाइए।
आखर सुढार मोती तिन्ह में अरथ जोती,
सगरी प्रबोध कौन कौन गुन गाइए।
अद्भुत सीढ़ी जाको चढ़िबो उतरिबो है,
उतरत 'नेही' चढ़िबो को फल पाइए।
बीना की सी सारीं सब पंकति रहीं हैं बन,
धुन ऊँची होत जात ज्यों ज्यों नीचे आइए ।।२९।।

नाक बरनन नायिका बाक

मदन दुबहियाँ चलावत कटाच्छ कासें,
भुव धनुक तान तान कै दुहूँ करन तें।
त्रिभुवननाथ कान्ह देख तें निरख 'नेही',
करत निसाने काढ़ काढ़ के घरन तें।
छोड़िबो करत दिन प्रति निघटीन क्यों हूँ,
ठौर ठौर गोप बधू बेधे हैं सरन तें।
बान भरे नैन बरुनीन तें यों जाने जात,
जाने जात हैं भरे तुनीर ज्यों परन तें ॥३०॥

नायिका बाक

आज चंद्रमा को साँझ भोर की दिखाई है हौ,
लालन फुरझरी बाग बागो झलकन को।
ताहि भेंटिबे कों देख द्वार भुज खोल रह्यो,
पाय लग्यो चाहै मन झर्यो अलकन को।
सखी हकबकी भई कौन को बखान करौं,
चाहन को लासान कूकी ललकनको।
आवत हैं 'नेही' बर बान बरुनी के कर,
पलका बनाउ क्यों हूँ मेरी पलकन को ॥३१॥

नायिका बाक

कपट भरें वे चितवन नाहिं देखियत,
पीयत न त्योरी कहौ आज और त्यौर है।
सांझ भई आइके रहन हौं कहत मेरें,
तेरें रहैं प्यारे प्रान सौतिन को जौर है।
दुहू कहैं आइबे को दुहू कहूँ आवत है,
पिय मोहि जानत हौ चित जिहँ ठौर है।
एक पिय 'नेही' यातें मेरी सी करत है तौं,
मेरो मन तोमें तेरो मन कहीं और है ॥३२॥

सखी बाक

'नेही' सुखदाई है सुहाई रितु ग्रीषम की,
चंदन के कठोरन न कच्छत दुराइ लै।

नींद के कहा है बल पल करके चपल,
डोरे भरे नैन चिक दूर से डुराइ लै।
बिन गुन माल गरें छबि जैहै हार परें,
छिन चूरियान साह होत है चुराइ लै।
दीप जोत है मलिन छलिबे को यहै छन,
जौं लौं भयो नाहिं भोर भोर ये भुराइ लै ॥३३॥

नायिका बाक

रीझिबो न बूझत रिझाइ नेकौं जानत हौ,
'नेही' प्रभु कहूँ तो अपुन पौउ दीजिये।
त्रिया जन हैं कँवल भानु भये कौन फल,
हूजे बल अल बिस ह्वै के रस पीजिये।
रूप के गुमान जिन रूठो रूठे बुरो कियो,
प्रकट न जानै चूक परो क्रिया कीजिये।
मैं तो मन मान ठान फिर पचताइ तुम्ह,
मन लियो मान लियो मानिबोउ लीजिये ॥३४॥

नायिका बाक अपने मन मों

प्रथम रिझायो पुन बाद ही रुठायो मोहि,
मैं जो कह्यो पीत को बढ़ाइबो विपारिहै।
पाछें पचताइ मान लै मिल्यो पिया सों,
उनहूँ न जान्यो बट पार बट पारिहै।
अब अकुलाइ उतै वै दुखित होंत रूसो,
इत हौं मोसों अंत पीतहि बिकारिहै।
ताते कहा कीजे आपही कों दोस दीजे 'नेही',
मैं न मन मारयो मन मोहि क्यों न मारिहै ॥३५॥

दूती बाक नायक सों

पानन के लाली लाल देखे अधर 'नेही',
जावक के रंग रंगी एड़ी यों निहारिए।
काजर के देहीं कजरारे नैन निरखिए,
सूँघिए सुबासन बसाइ देह सारिए।
भूखन तें बन्री बनिता हैं ठाढ़ीं आस पास,

सभन को सुख दीजे गरें बांह डारिए।
खेलिए खिलाइए हूँ हँसिए हँसाइए हूँ,
रीझिए रिझाइए हूँ जौ लौं ल्याउ प्यारिए ॥३६॥

बेंदिह बरनन

चपल न थिर पग नैन भाँवती के 'नेही',
चलन चितौन में अनोखी अवरेखिहैं।
दूरबे में लाज सूधे देखिबे में चंचलता,
तातें ठहरत नांहि कछु जिह पेखिहैं।
जोबन न बालापन पहिले कहत बनौं,
सिंधु कहौं कैसें और केतक बिसेखिहैं।
हेरैं भरमावैं हाथ लायँ तें उठावैं न,
मदन चितेरे उभरे सकुच लेखिहैं ॥३७॥

दूती बाक नायक सों

देखि मांग बिथुरी चढ़ाइयत है जगत्पूरी,
टीको मिट्यो देखि भुव जग मरोरियत है।
रात के उनीदे देखि नैन डबराइयत,
रद छित देखि अधरा बिदोरियत है।
दर्पन सौत को बदन दिष्टि पर्यो मानो,
मोहू सों अनख 'नेही' मुँह मोरियत है।
एक हूँ न रीझे आज तो क्या तिहारी प्यारी कौंन,
पिय जिन लह्यो तिन कह्यो तोरियत है ॥३८॥

दुती बाक सखी सों

यह तो दिखावत है सिसक सिसक छाती,
ऊरध उसांस लै लै तोरत है बखियाँ।
तुम पग जंघा लाँक कर सीस दाबत हौ,
सब मिलि दौरत हौ चहूँ भाँते पखियाँ।
यातें घबराति है जो 'नेही' भनि वै रसिक,
बदी यह नायिका अनोखी तुम सखियाँ।

सुख रति मानी दुख पायो तो कहा भयोजु,
मीठी नींद आये करुवात नाँहि अँखियाँ ।।३६।।

दूती बाक सखी सों लघु मान

सावन कै निसि बरखत घोर अंधकार,
दंपति है पौढ़ी सखी दोऊ अंक भरके।
याही मैं पपीहा पीउ पीउ कर टेरो 'नेही',
सुन धुन कान धर्‌यो नेक ऊब हरके।
बाल भ्रम भूली कहि रूठी लाल कह्यो बैरी,
ऊतर भयो ऊ कोऊ गयी हिया धरके।
साँस लेन कें बिलम में मनाय लई तिय,
पिय पान खाइबे के बास दूत करके ।।४०।।

लघु मान

प्यारी तो रुठाइ तोहि रूठत है आपहू सों,
'नेही' हम सखियन की कहा चलाइए।
सीकर करत सोइ जामें जिय दुख पावै,
भली कीनी सुधि लीनी पिय बेग आइए।
हम सों अनख भुव जुग जोर रही सोर,
जागत सकुच निकरी है यै जगाइए।
लगत बरौनी कुंजी भौंह तारो खुल जैहै,
जब दीख्यो मुख तेरो मान कहाँ पाइए ।।४१।।

लघु मान

वाको तो उधार है तिहारोई पियार प्यारे,
जब तौं न लावै मुँह बैरा उनखात है।
पेच पर पेच पार्‌यो चाहत हैं धर घालीं,
बाधे हीं गहत है जो प्यारी अनखात है।
लघु मान ही सों तुव नाम ही सुनत छूट्यो,
अब सखियन्न मैं लजात पचतात है।
होठन तें हाँसी भौंह भौंहन तें त्योरी होंठ,
लई है छिनाइ 'नेही' तातें मुस्कात है ।।४२।।

मद्ध मान

कौन बात कौन गहि बैठी ऐंठी जात काहे,
तेरो चह्यो ह्वै है ऐरी मेरी हूँ जू मान री।
मन ज्यों पतीजै आदि ऐंच खेंच कीजै अंत,
आपुन पौ दीजै जैसें उत्तम कमान री।
तोही सिख देत सक लागै मोहि 'नेही' प्यारे,
कोउ न बिचित्र तिय तेरे ही समान री।
तोहि भावै मान हौं हूँ कहत हौं मान मान,
मन बिन आन जो कहौं सो तौं न मान री ॥४३॥

मद्ध मान

आनन की जोत जो न ज्यों बिराजे अंगन मैं,
कोरो गहैं बैठी रहिबो करौ न डोलिए।
ऊतर न दीबो पुन ऊतर हो 'नेही' प्यारे,
कौन है कहत तोसों मौन तजि बोलिए।
पीतम के गीत कै सुनत है जो घट बढ़,
सोऊ सोध सोध के स्रवन पला तोलिए।
भौंहन मरोर मान गाँठ बाँधिबे में साथ,
मोहन को मन पै बंध्यो है ताहि खोलिए ॥४४॥

मद्ध मान

धूर भरो धूसर गरे मैं झिलगी को झगा,
जाहि देखिबे को सबके ही मन हाव री।
दामिनी अगिनि मुख मैं जराइ कै बुझावै,
गरज गरज पुन बोलत उनाव री।
बग-पाँति राँति को दियन के बनाइ माइ,
हँस के हँसावत तरुन बिधि डावरो।
तेहूँ ऊँची नार के निहार नेक 'नेही' प्यारे,
धन बन आयो है भगत को सो बावरो ॥४५॥

मद्ध मान

आवै हियो भर मौन रहे नित ऐसे खिजाइए नाँह गुसाईं।
'नेही' न ऊतर दै सकै काहू को जो तुक बूझत बात लुगाईं।

मैं कह्यो बोलौ कहौ जिय की कछु पाय परैं फिर सौंह दिवाइँ।
टूट परे दृग तें अँसुवा मुँह खोलल है पुन चोरैं की नाइँ ॥४६॥

गुरु मान

'नेही' प्यारे जो तिहारी प्यारी मैं निहारी आज,
कर धरे ठोढ़ी भूमि छोलत है नख सों।
गहें मुख मौन तातें जाने ये न कौन कौन,
औगुन गनत डार डार आँसू चख सों।
हितु आइ कैं उपाइ कर पिय काहू तन,
ऊतर न देत औ न चितवैं कनख सों।
काजर कों आँख भर देख न सकत फुन,
बानिन को मुँह न लगावत अनख सों ॥४७॥

गुरु मान

बात मुँह चाब चाब अधर दसन दाब,
चितवत कहा ऐसें भौंहें तान तान कैं।
मन को निकार काँटो नासिका कली फुलाइ,
कौन फल पैहै सुख कर सिख मान कैं।
'नेही' कों लगी है तलबेली तौं अकेली अलि,
बेली ज्यों न ऐंठी अलबेली नाँव जान कैं।
आइ लघु मत गुरु गूँगे को बिचार जिन,
कहा गूंगे होइ रहि है मान ठान कैं ॥४८॥

गुरु मान

जे जे हैं सयानी नारि ते ते तेरें चटसारि,
पोथी 'नेही' कहत पढ़त हैं सयान की।
सीखत हैं प्रेम पूर पच्छ के प्रकार तो पैं
बूझत हिये तो पुनि बिधि समाधान की।
बाबन अच्छ उच्चरन काज तुव मुख जीभ,
रूप प्रगटी है यह सकति बखान की।
समय कैं बिसार सूव घूघट निकार अब,
प्यारी तौं बिद्यारथी भई है गुरु मान की ॥४६॥

गुरु मान

पिय अकुलाइ अब करिए कहा उपाइ,
तैं पसार पाई जान्यो नाक के सिकोर तें।
सुन सिख बैन ऊँचे कर नैन 'नेही' प्यारे,
थकहारी हौं निहारि निहुर निहोर तें।
थोरी बात कैं बिचारि मन न मलीन कीजे,
नीर गदरात बल खादर हिलोर तें।
निस दिन रिस कर भौंह न मरोर तेरीं,
सखी सुखी होत मातराई के मरोर तें ॥५०॥

कूबरी बरनन गोपी बाक

तान के गवैया बाँसुरी के बजवैया वेइ,
हम कहा जानैं नाद कहा कीजियत है।
दान माँगिबे के टेव उनहीं कों खप्पर जो,
हमैं देत है सो अपा क्यों न लीजियत है।
ग्वैला रूप है कन्हैया राज राखैं हमैं दैया,
कपटी की अटपटी बातौं जो जियत है।
'नेही' आप कूबरी बैरागी जिम काँख गही,
देखो बावरी को जोग हमैं दीजियत है ॥५१॥

जोग बरनन

गोकुल मैं जाइ मोहै रट लागी हाय हाय,
जोग बिसराय रह्यो जाइ मृग भूला ज्यों।
कासों कहौं बैन मृगनैनी कोऊ सुधि मैं न,
डबराइ नैन 'नेही' लागत बबूला ज्यों।
हिये कामसूल सोइ पावक हैं तन तूल,
तेल गयो भूल सरफूल भयो पूला ज्यों।
तजें द्रुम छाँह एक एक न्यारे बन माँह,
भसम चढ़ाइ अंग फिरत बघूला ज्यों ॥५२॥

जोग बरनन

जोग गहैं न कहैं कछु भोग कै खप्पर मेखली नाद समेटैं।
एक ही आसन बैठी रहैं कबहूं उठ ठाढ़ी न होंहि न लेटैं।

कान छिदाइ भभूत चढ़ाइ लटैं चिटकाइ जटा कै पलेटैं।
ऊधो सिधारिए आग अँगार ज्यों आज ते राख ही राख लपेटैं ॥५३॥

जोग बरनन

निधरक आव मन में न कछु ल्याव ऊधो,
कान्ह जो कह्यो है जोग हम कों सिखाइए।
सोचत हैं कहा अब 'नेही' हम गोपी सब,
बिनती करत इछा उनकी पुजाइए।
अगिनि हमारी हम बिन और कों न जारैं,
डारिए न बल फुनि जिन उकताइए।
कागद जरे के चिनगारी को बिलम कहा,
लै भसम भसम हमारे सों मिलाइए ॥५४॥

गोपी बरनन

गोपिन की बिथा करो गान कान्ह मोपैं कछू,
कही नहीं जात बात जिह भाँति लहै हैं।
कुंजन मैं तुम्ह संग खेलत हैं जहैं जहैं,
ठाढ़ी हकबकी सी थकी सी रत तहैं हैं।
जरगै काम जार डारीं तातें न्यारी न्यारी,
मुरझाइ सूख 'नेही' ह्वै अचित रहैं हैं।
बेली द्रुमडार गहैं अलबेली जानिए न,
द्रुमडार गहैं हैं कि द्रुमडार गहैं हैं ॥५५॥

गोपी बरनन

गरज ढिंढोरो दै गगन तोरचो नींद तारो,
पलक के पाट खोल डारे नैन धाम के।
चंद्रमा रुपैया तारे कौड़ी को चलन गयो,
जाम भये पल के बरख भये जाम के।
फूल कै कली नै लीनी चूनां की कली कै रीति,
देखि कै अनीति जो न छीने गुन धाम के।
'नेही' है कहत बैंग सुधि लेहु ब्रज नाँह,
तोपन चलाइ स्याम काम दाम चाम के ॥५६॥

गोपी बरनन

भूटी छूटी घन गज पेल घेरैं बाट,
संग संग उडगन अंग सभा लीनी है।
जोगना लुटेरे बार बार दिया घर पैठे,
घट घट माँह फूँक फूँक आग दीनी है।
झेंगुर सुनाइ के जिरह झनकार नेही',
गोपिन दुराइ सुध-बुघ सब छीनी है।
सुनो कर न गर सिधारे कान्ह द्वारका जू,
ब्रज पर ससि आइ रतवाह कीनी है ॥५७॥

गोपी बरनन

मंदिर न भावै ज्यों ज्यों माँदर बजावै घन,
तलफ तलफ तातें दामिनि ज्यों नाचिए।
बिख बरखत मेह पवन दहत देह,
कब लौं यों आपन पौ विरह आँच आँचिए।
कबहूँ पथिक पाती ल्यावै तब मन आवै,
पातिक कटीगो अब पढ़ै झूठी साँचिए।
खोलत पै 'नेही' आँसू आघर लै गाँठ बाँधैं,
रहै कोरो कागद सो ताको कहा बाँचिए ॥५८॥

पाती बरनन

लेखत हौं पाती छाती फाट गई लेखनि की,
देखन के भई हौं कहीं न पतियाइहौ।
रह्यो नाहिं मास कहूँ कहूँ निकसत साँस,
कहाँ-लग आँकौं बाँच बाँच उकताइहौ।
नाक जीव रह्यो आइ बेग सुधि लेहु धाइ,
याते हौं कहत फिर पाछे पचताइहौ।
तेरी ही सौं, 'नेही' मोहै मरिबे को दुख,
नाहिं दुख है यहै जो तुम्ह सुन दुख पाइहौ ॥५९॥

पाती बरनन

धूम मध दुरी आग बरत है याकै मुख,
जग जीभ धरत सो नाहने हलत है।

नाथ कारे नाग नाथ्यो तातें हाथ गहत हौं,
ना तो यह दूर ही ते प्रान निकलत है।
कारे बिसहारे मारे कौंडरी सँपेरिया ज्यों,
डारत अनेक जब जब जो चलत है।
नागिन है किधौं नाँह जानियत पै,
लेखनि तिहारो 'नेही' बिष उगलत है ॥६०॥

पाती बरनन

महाराज तें बिछुर झूरिबो करत जीय,
बिछुरन पीर मरिबेऊ तें बिसेखिए।
रहत उदास तातें दूसरो न भावै कछू,
रावरे निरख अब और कहा पेखिए।
बाँच साँच मानहु कि नाहि कहा लेखौं 'नेही',
जो जो कछू बीतत है आप आइ देखिए।
चेरी भली निघटी न निघटी कथा हमारी,
द्रौपदी के चीर पै जो पीय चेरी लेखिए ॥६१॥

पाती बाक

लाल मिलिबे की हौं बधाई देत तोहि माई,
सुखदाई सुख सोच मन धीरियत है।
आज काल्ह परौं को परे री पिय आइ जान,
काहे कों बिरह पीर प्यारी पीरियत है।
मो मैं सब भाग है बियोग ऊ जो होइ तोउ,
लाइ लाइ पाती ताती छाती सीरियत है।
आवत है 'नेही' बीर तूँब मोह जिन चीर,
और चेरी आवन कों चेरी चीरियत है ॥६२॥

आगम बरनन

आगम भयो है मनभावन के आवन को,
उड़ मिल्यो चाहै तातें आँख फरकत है।
मेरे कर लैं बलैया उड़ें काग करके यों,
लिये तें बलैया आँगुरी ज्यों फरकत है।
अंक भरे आँगन हूँ फूलिहौं अमाइहौं न,
कंचुकी तो भुज फरकत दरकत है।

गरे लगि भेंटत हौं कौन गति ह्वैहै दैया,
कुच फरकत मेरी छाती धरकत है ।।६३।।

समीप बरनन

दोनों हौल कुंजन की 'नेही' मनरंजन कें ।
संग कौन कीनो हौ सो मो मन बिचार है ।
तरुवर गाहे रहत तोहि बिरही कहत,
दाहत है देह बिधि नाहन अंगार है ।
जर जाहुँ नैन जिनकैं न तू सुहाइ देख्यो,
मेरो आज है न तोसों सदा को पियार है ।
आवन पिया को अब कह कैसे सुन पायो,
कित हौ कहाँ ते आयो चंद्रमा जुहार है ।।६४।।

समीप बरनन नायिका बाक

और के न और जिय आन जिय दान देह,
तेरे उठ चले ते परम सुख पाइहौं ।
'नेही' पैं पयान कर मेरे मत पाछे पर,
नाय कुत जाहु जर दूतिऐ कहाइहौं ।
डाह तब कै कै और अब बसी ठाई कै,
माइ न चलाव तेरी लेत रे बलाइहौं ।
पिय के समीप भये आपु ही समुझिहै तौं,
कहिबे के नाँह बल कैसे हूँ बताइहौं ।।६५।।

फुन नायिका बाक

सुंदर सरूप जाको बरन्यों न जाय रूप,
जैसो वाके तन तैसो कहाँ है अतन में ।
प्रानन के प्रान प्रानप्यारी के सनेह ताते,
प्रान जिमि देह रम रह्यो है सभन में ।
कीने हैं अनेक बस प्यारी ही के अनुकूल,
लच्छन है स्वच्छ यह दच्छन कहन में ।
एक एक कही ताम साँच कही एक पीय,
बसत हौं मैं ही एक 'नेही' पिय मन में ।।६६।।

चौपर बरनन्

केलि खेल ठानिबे को खेलत हैं चौपर आइ,
खेल देख्यो है बहुत ताते डरियत है ।

सार जुग होत हैं बिसार लाज को बिचार,
आइ बाँह गरे डार गिरी परियत है।
चपला की कौंध हू कहा है देखें लागी चौंध,
इनकी चपलता तें दृगन उघात है।
हाथ गह्यो पाँसा चिह्न गहियत हाथ 'नेही',
आँगुरी पकर पहुँचा पकरियत है ॥६७॥

चौपर बरनन

प्यारी कर परस सरस भये गुन रूप,
जासों पटतर दीजे तासों सरसात हैं।
कैसे कै समर कीजे सुधा की लहर कैसे,
ठहरत नाँह कहूँ एतो ठहरात हैं।
जीतें होत अनबन कहा कीजे बाजी मन,
बद और कह और राजी करियत हैं।
चहूँ ओर 'नेही' मेरे जान बिंदुकान होंहि,
पासन के संग लगी नैन ढरी जात हैं ॥६८॥

नृत्त बरनन

रंगभूमि माह जब आइ कै डुरावै बाँह,
रहत है सुधि नाँह तब छबि लह के।
ठौन सों ठनक सों चरन ठौर ठौर धरै,
बस करै चित हरै थई थई कह के।
मूठी में समाय कटि, सुकुमार नटि पिय,
गहैं हठ कौंध जिम कौंध रह रह के।
तिय को नसत गिर परै मित या निमित,
वरन परत हों रहत गति गह के ॥६९॥

समयो बरनन

.... को जड़ दहौं अति जाके डर,
निकसै न दिनकर ऐसी सियराई है।
तारी काँपें न्यारी न्यारी तातें मनमथ ढूँढ,
घट बिरहिनि को गरम ठाँव पाई है।
और ठौर ठौर जित कित जल जम गयो,
ताको 'नेही' पिय उक्ति मति इमि आई है।

चलत समीर लाग्यो काँपन महा जो नीर,
दया की तुसार मानो चादर चढ़ाई है ॥७०॥

तमाकू बरनन

'नेही' सुरा कै तमाकू के डाहन काढ़ कैदेखि हिये कै फफोला।
दोऊ मैं है गुर पी कहा कीजिए लोग गहैं रस छाड़ अगोला।
नै अधरा मध पीये खुमार नहीं मुँह प्याले जंभाई के खोला।
क्यों न सुराही रुई करै कान मैं देत है बोल हुका बड़ बोला ॥७१॥

गिरि बरनन

गरज गरज घननाद पूर पूजा करैं,
सिव सोभा निरखत पीर पुनजाल की।
झरना झरत सोइ बहत है गंगधार,
सघन द्रुमहिं सो जटा है चंद भाल की।
दीखत बरफ सो लगी है पै भभूत आग,
ठौर ठौर बेली फुन देत छबि ब्याल की।
लोगन की पाँति पिया निरख कराँत कहौं,
बाट तो भई है 'नेही' डोर मुंडमाल की ॥७२॥

गिरधारी बचन

डगर बगर घर गोपिन को डर रहै,
कंस जो दहाती जसुधा न डरियत है।
धैनु लै जो जैहे तो कहै है चोर माखन के,
मोहि दहौं बती इन्ह मों क्यों भरियत है।
घाट गई बाट पार जित कित ते कहत,
गारी सहि सहि दिन प्रति लरियत है।
बाँसुरी बजाइबे को करत है चाव 'नेही',
गोकुल में फूँकि फूँकि पाँव धरियत है ॥७३॥

बाँसुरी बरनन

आग जिमि राग है भर्यो जो बाँसुरी मैं ताकी,
सिखा सम तानें लगैं गोपिका तपत है।
गान मध तूल दैं दैं जैसे बाती बरै नेह,
नाहन उपाइ कछू बाद ही पचत है।

बन के पखेरू उड़ पाँखन पखा करत,
गोकुल की कुलबधू कैसें कै बचत है।
जर गई अति ताते ताते तक 'नेही' कान्ह,
फूंक फूंक गहै तोऊ आँगुरी नचत है ।।७४।।

बाँसुरी बरनन

बाँस की बनाई और एते पर धुन खाइ,
काहे न जराइ सब कहैं पचताइ कै।
जानैं कौन केती बार हाथ गहि कै निहार,
'नेही' हम डार डार दई हिय धाइ कै।
ताके अब बोल निकसत प्रान छोल छोल,
तातें हम तुम्हकों कहत हैं सुनाइ कै।
ब्रज बसिहैं न नारी, रहैगी यहै तिहारी,
ऐसें जो बिगारी है बिहारी मुँह लाइ कै ।।७५।।

बाँसुरी बरनन

'नेही' हौ कहत टेरें बाँसुरी पपीहा मेरें,
परे हैं अकसहू निकस कत जाइए।
दुख देत हैं घनेरो पहुँचै न हाथ मेरो,
दोउ घनस्याम ढिग बैर क्या जनाइए।
चैन है न दिन रैन दुहुन के सुन बैन,
स्रवन से भये नैन पलकौ न लाइए।
सुर सरगहि कैसें होत हैं सबद बेधे,
इन्ह छिदे कंठन कों भेद नाँह पाइए ।।७६।।

स्फुट कवित्त

कोइ कहै जाइ कान्ह आइ है बसंत रितु,
कोइल कै कूकन की ब्रज मैं बखानी है।
हिय सुलगत आग ऊधो दई भुवंग आइ,
भनत न बनत जरि बचन बखानि है।
एते परखै कमान काम कमनीय रूप,
गोपिन की 'नेही' दृग नार का निसानी है।
खुले अधखुले अनखुले नाँह लै पुहुप,
आइ बीन मारी एक छूइ एक तानी है ।।७७।।

आँखिन के आगे सरसों सी फूलिबो करत,
जानै न परत कौन बीज यह व्वै गयो।
बिरह अगिनि ज्वाला निकसै न साँस संग,
सोचन सकोचन सों 'नेही' तन लै गयो।
निस दिन जागत है लागत न नैन नेक,
मन कों अनेक भाँति लैउ देक दै गयो।
कैसे अब प्रगट दिखाइहै दरस मोहि,
सपनें न देखौं ताते नींद हरि लै गयो ॥७८॥
जाव नातैं 'नेही' पिय तुम बेधो तिय हिय,
मारि मारि कोर दृग पंछी बिसाल की।
फुनि वहै छेद संध कर मन चोर लीन्हो।
ताव नातें कछू औरै भई गति बाल की।
बीह हिरदै को चल आँसुन को सेत भयो,
मो पैं न बनत है भनत वाके हाल की।
छाती भर-भर नैन भर-भर उमडै यों बूढ़ जात,
धरी मैं धरी ज्यों घरियाल की ॥७९॥
किधौं लाज भार तें निहार न सकत ऊँचे।
नीचे नार रहत कुमार है कलीन कै।
किधौं 'नेही' जैसें नाल नलिन कली के तैसें,
सहि न सकत है चिहू कुंज पीन कै।
किधौं आप हीन तें चलत नै तिय तन माँह,
जान निहचै के प्रकीरति प्रबीन कै।
गुन प्रान कहौं कान्ह कौंन कौन देत जान,
कूबरी न होय बेटी होय मन मीन कै ॥८०॥
निपट चपल मन छावैं जो भरत तन,
तोउ ध्यान धर ताहि अचल करत है।
'नेही' कहै तेरो रूप प्यार चित मंदिर मैं,
चित्र लखे पूतरी ज्यों नाहन तरत है।
रावरी के बैन सुन होत हैं त्रिपति कान्ह,
आन बैन सुनिबे की रुचि ना धरत है।
पूतरी न देखियत देखियत सब कछू,
तेरे बिन देखे कछू देख्यो न परत है ॥८१॥

नाँह यह जोन्ह ज्वाल जरी तातें बाँचे कौन,
यासों जरै जौन ताको गुन गुनियत है।
नेवर न होंहि तोल गुरुफल हैं रे आली,
'नेही' पिय की सौं देख सिर धुनियत है।
बूझ न परत सुन ये जुगुनू न होंहि,
ठौर ठौर सखी री अंगार चुनियत है।
झींगुरन हू को सोर नाँहि य चहूँ ओर,
आवत है नीर ताको सोर सुनियत है ।।८२।।
कबहूँ गै पौंर कबहूँ दौरि आँगन मैं,
कान्ह चक दौरि कैसें भाँवरीं भरत है।
'नेही' है छिपावत दौरावत सुन रस तातें,
नीलकण्ठ देह दावान से जरत है।
कंतर सो बेधत बरवाधि उर अंतर,
निरंतर की बात जब अंतर परत है।
गुरु जान आगें आली मोतिन बिलोकिबे कों,
साँवरे की आँखिन को संगति परत है ।।८३।।
सखी स्याम रैंन माँहि यातें बिज्जु कौंधियत,
जौन बूँद बान मारैं पौन लहि लहि के।
कोइल करत कुल गान कहा कहत है,
कुहुक कुहुक कूह कूह कहि कहि के।
एते पर अब यह सुन फुन कैसें जीजे,
मोहि, 'नेही' बिन देखें दुख सहि सहि के।
हियो भरि आयो रुक रुक जात कंथ ताते,
कहत पपीहा पीउ पीउ रहि रहि के।।८४।।
भामिनि भवन पग भूलेहूँ न धरियत वह,
निस दिन मग देखिबो करत है।
जानत हौं 'नेही' तुम वाही मारैं चाहत हौ,
मारे वहै मरिबे की होसन मरत है।
कैसें कै कहौं ब्यथा बरत जिय मेरो जैसें,
तैसें जो कहत अति रसना बरत है।
पलक झपक पंखा नैन आध परे कोइला,
आँसू हीं चिंगारियन जारत जरत है ।।८५।।

———

हिम्मतख़ाँ मीर ईसा
'मीरन'

८ हिम्मतख़ाँ मीर ईसा 'मीरन'

शृङ्गारकालीन काव्य के संग्रह-ग्रन्थों में 'मीरन' की स्फुट हिन्दी रचनाओं के उदाहरण अवश्य मिलते हैं, किन्तु, वे कौन थे ?, कहाँ के रहने वाले थे, ? उनका वास्तविक नाम क्या था ?, आदि विषयों से सम्बन्धित तथ्यों का कोई भी संकेत नहीं मिलता। कारण यह है कि मध्ययुगीन हिन्दी काव्य के अध्ययन हेतु फ़ारसी भाषा में लिखित तज़किरों और इतिहास ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री का अपेक्षित उपयोग नहीं किया जाता। इस प्रसंग में अब्दुलहक़ मुहद्दिस देहलवीकृत **अख़बारुल-अख़यार** अमीर ख़ुर्दकृत **सियरुल औलिया**, जहाँगीर अशरफ़ सिमनानीकृत **लताएफ़े अशरफ़ी** ,जमालीकृत **सियरुल आरिफ़ीन**, मुहम्मद सादिककृत **तबक़ाते शाहजहानी**, शाहनवाज़ख़ाँकृत **मआसिरुल उमरा**, शेरखाँ लोदीकृत **मिरातुल ख़याल**, शेख़ रुकुनुद्दीनकृत **लताएफ़े क़ुद्दूसी**, मीर हमज़ा कृत **काशिफ़ुल अस्तार**, मीर अब्दुलवाहिद कृत **सबा सनाबिल**, गुलाम मुहम्मद ख़ाँ वासिल कृत **मिफ़ताहुल हिन्द**, आदि फ़ारसी भाषा के अनेक ऐसे ग्रन्थों के नाम लिये जा सकते हैं जिनमें मध्ययुगीन हिन्दी कवियों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री मिल जाती है। हिन्दी के साहित्येतिहास लेखकों को इस सामग्री से लाभ उठाना चाहिए।

मीरन एक अपूर्व प्रतिभा के कवि थे। सम्राट् औरंगज़ेब की कला-

प्रियता[1] ने उनके गुणों को निखारा था और पग-पग पर उनको प्रोत्साहन दिया था। उनका व्यक्तित्व हिन्दी जगत् में अपरिचित है किन्तु उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करने पर हिन्दी साहित्येतिहास के पृष्ठों में वे उचित स्थान के भागी प्रतीत होते हैं।

जीवन-परिचय

मीरन का वास्तविक नाम मीर ईसा था। वे इस्लाम खाँ बदख़शानी के पुत्र थे जिन्हें सम्राट् ओरंगज़ेब की विशेष कृपा प्राप्त थी। सम्राट् ने

---

१. सम्राट् औरंगजेब को काव्य और संगीत के घोर विरोधी और हिन्दू तथा शीया-विद्वेषी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है किन्तु वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है। शीया मुसलमानों और हिन्दुओं को उसके काल में अनेक महत्वपूर्ण उच्च पद प्राप्त थे और वह उनका अपेक्षित सम्मान करता था [इस प्रसंग में देखिए डा० अतहर अली का प्रसिद्ध ग्रंथ—दि मुग़ल नोबिलिटी अन्डर औरंगज़ेब] वह स्वयं भी हिन्दी में 'आलमगीर' तथा शाह औरंगज़ेब उपनामों से कविता करता था [संगीत राग कल्पद्रुम, प्रथम खण्ड, पृ० १३४ तथा २४६ एवं 'हिन्दी के मुसलमान कवि, पृ० १५८-१५६] साथ ही हिन्दी कवियों को श्रेष्ठ काव्य रचना हेतु प्रोत्साहन देता था। कवि वृन्द को उसकी ओर से प्रतिदिन दस रुपए मिलते थे। [वृन्द सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन हेतु देखिए डा० जनार्दन राव चेलेरकृत 'वृन्द और उनका साहित्य, पृ० ४६-५०] वृन्द के अतिरिक्त ईश्वर, सामन्त, कृष्ण, कालिदास, द्विवेदी, नेही, मधनायक, मीर जलील आदि अनेक हिन्दी कवियों को उसका आश्रय प्राप्त था। रघुनाथ तथा ईश्वरदास आदि संस्कृत कवि भी उसके आश्रय में थे। अपने ज्येष्ठ पुत्र आज़मशाह को हिन्दी काव्य की शिक्षा देने का उसने समुचित प्रबन्ध किया था। मीरज़ा ख़ाँ ने आज़मशाह के पठनार्थ तोहफ़तुलहिन्द नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था। सम्राट् की पुत्री ज़ेबुन्निसाँ भी हिन्दी की एक अच्छी कवयित्री थीं।

सम्राट् औरंगज़ेब के शासन काल में संगीत के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई। इस प्रसंग में हृदयनारायणकृत 'हृदयकौतुक' तथा 'हृदय प्रकाश', भावभट्टकृत अनूप संगीत विलास, अनूप संगीत रत्नाकर और अनूपांकुश, व्यंकटमखीकृत, चतुर्दण्डि प्रकाशिका और नेहीकृत तरजुमा संगीत पारिजात के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दों में औरंगज़ेब संगीत का द्रोही नहीं रागरंग अथवा भ्रष्ट अश्लील गानों का शत्रु था [मुगल बादशाहों की हिन्दी, पृ० ४५-४६]।

मीरन से पूर्व उनके पिता को हिम्मत ख़ाँ की उपाधि प्रदान की थी। मीर ईसा श्रेष्ठ गुणों से युक्त, अपूर्व प्रतिभावान मेधावी व्यक्ति थे। विद्वानों को आश्रय और संरक्षण देना उनका सहज स्वभाव था। वे प्रकृति से सज्जन और मानव हितैषी थे। गुणशील कवि और कलाकार प्रत्येक दिशा और क्षेत्र से उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और योग्यतानुसार पुरस्कृत होते थे।[१] सच तो यह है कि वे अपने युग के दूसरे रहीम ख़ानख़ाना थे। हिन्दी कवि श्रीपति भट्ट पर उनकी विशेष कृपा थी। उन्हीं की प्रेरणा से श्रीपति ने **'हिम्मत प्रकाश'** नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[२] कवि बलबीर के प्रति भी उनका विशेष स्नेह था।[३] इनके अतिरिक्त हिम्मतख़ाँ कृष्ण कवि के भी आश्रयदाता थे।

मीर ईसा को अपने समय में वही आदर सम्मान और असर प्राप्त था जो उनके पिता इस्लाम ख़ाँ को शाहज़ादा औरंगज़ेब के समय में प्राप्त था। सम्राट् औरंगज़ेब और जसवन्त के युद्ध की समाप्ति पर मीर ईसा को दो हज़ारी मंसब प्रदान किया गया और हिम्मत ख़ाँ की उपाधि से सुशोभित किया गया।[४] सम्राट् के ६ठें वर्ष जब मीर ईसा के पिता आगरा के गवर्नर नियुक्त हुए तो उन्हें उस जनपद का फ़ौजदार बनाया गया। उनके एक हज़ार घोड़ों में पाँच सौ दो घोड़े और तीन घोड़े थे। पिता के निधन पर वे दरबार में लौट आये और उन्हें कुरबेगी का पद [शाही पताका का अधिकारी] प्रदान किया गया। ९ वे वर्ष वे वेत्रधारियों के अधीक्षक नियुक्त हुए और १२ वें वर्ष में

---

१. शाहनवाज़ ख़ाँ : मआसिरुल उमरा, १८८८ ई०, खण्ड ३, पृ० ९४६

२. श्रीपति भट्ट का रचनाकाल सं० १७३१ माना गया है [हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, द्वितीय खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ६४५] हिम्मत ख़ाँ मीर ईसा का निधन संवत् १७३८ में हुआ था। इस प्रकार उनके आश्रय में रहकर ही श्रीपति भट्ट ने काव्य रचना की। उनका ग्रन्थ हिम्मत प्रकाश हिम्मतख़ाँ की ही आज्ञा से सन् १६७४ ई० में लिखा गया।

३. कवि बलवीर भगीरथ दुबे के पुत्र थे और क़न्नौज के निवासी थे। इनको हिम्मत ख़ाँ का आश्रय प्राप्त था [हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, प्रथम खण्ड, पृ० ६२८] इनका रचनाकाल संवत् १७३८ से पूर्व माना जाना चाहिए।

४. मुहम्मद काज़िम : आलमगीर नामा, १८६८ ई०, पृ० ७७

दीवाने ख़ास के अधीक्षक हुए। तत्पश्चात् उन्हें तीन हज़ारी मंसब और तृतीय बख़्शी का पद प्राप्त हुआ। १४ वें वर्ष में वे द्वितीय बख़्शी बनाये गये और १७ वें वर्ष में वे शाही ग़ुस्लख़ाना के अधीक्षक बनाये गये। १९ वें वर्ष में वे इलाहाबाद के गवर्नर नियुक्त हुए और ४ नवम्बर सन् १६८० ई० को उन्हें अजमेर में प्रथम बख़्शी बनाया गया और ख़िलअते-दुपट्टए-ज़रीं प्रदान किया गया। १६ जनवरी सन् १६८१ को उनका निधन हो गया।[१]

मीर ईसा का उपनाम

हिन्दी कविता में मीर ईसा का उपनाम 'मीरन' था।[२] संग्रह ग्रन्थों में 'मीरन' और हिम्मत ख़ाँ को दो पृथक्-पृथक् कवियों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है[३] किन्तु हिम्मतख़ाँ 'मीरन' की ही उपाधि थी और वे इसका प्रयोग अपनी हिन्दी रचनाओं में करते थे। हिम्मत ख़ाँ की छाप से मिलने वाले कवित्त भाषा और शैली की दृष्टि से मीरन की अन्य रचनाओं से भिन्न नहीं हैं। मीरन फ़ारसी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में कविता करते थे। फ़ारसी काव्य में उनकी छाप का कोई उल्लेख नहीं मिलता। **मआसिरुल उमरा** में उनका एक फ़ारसी शेर उद्धृत किया गया है जिसका अनुवाद इस प्रकार है—

काँटा तो बस वही था जो मजनूँ के हृदय में चुभा हुआ था,
जंगल में उस दीवानगी का एक काँटा भी नहीं है।[४]

---

१. शाहनवाज़ ख़ाँ, मआसिरुल उमरा, खण्ड ३, पृ० ६४७-६४९

२. He [Himmat Khan Mir Isa] also had a taste for Hindi and was well versed in it. His pen name was Miran.
[मआसिरुल उमरा, पृ०६४६]

३. हिन्दी के मुसलमान कवि नामक ग्रंथ में पृ० ३१६ परिशिष्ट ख पर हिम्मतख़ाँ का एक कवित्त प्रस्तुत किया गया है। जवाहर लाल चतुर्वेदी ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ में पृ० ६०७ पर ब्रजभाषा और मुसलमान कविगण शीर्षक लेख में हिम्मत ख़ाँ का रचनाकाल १८३० वि० लिखा है। वस्तुतः यह मीरन ही की उपाधि है। कवि का नाम हिम्मत ख़ाँ नहीं है। नवाब हिम्मत ख़ाँ या सैयद हिम्मत ख़ाँ नामों से हिम्मत ख़ाँ मीर ईसा ही अभिप्रेत हैं। इस युग में किसी अन्य हिम्मत ख़ाँ नामक प्रतिष्ठित व्यक्ति का कोई संकेत नहीं मिलता।

४. मआसिरुल उमरा, पृ० ६४६

काव्य रचना

मीरन के स्फुट कवित्त, सवैये और दोहे हिन्दी के संग्रह ग्रन्थों में मिलते हैं। **दिग्विजय भूषण** में डा० भगवती प्रसाद सिंह के अनुसार इनके दो छन्द उदाहृत हैं।[१] डा० सिंह की यह सूचना ठीक नहीं है। **दिग्विजय भूषण** में दो नहीं अपितु तीन छन्द (पृ० ६३, ६४, ५५०) उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। **शिवसिंह सरोज** में भी उनके दो छन्द मिलते हैं (पृ० २५२-२५३)। ग्रियर्सन की सूचना के अनुसार मीरन ने **नख-शिख** नामक एक काव्य ग्रन्थ की भी रचना की थी। यद्यपि मीरनकृत **नखशिख** ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु उनकी स्फुट कविताओं के जो उदाहरण मिलते हैं उनसे ग्रियर्सन के विचार की पुष्टि होती है। उपलब्ध सवैयों पर 'प्रौढ़ा खंडिता' तथा 'मध्या अधीरा' आदि जो शीर्षक दिये गये हैं उनसे यह भी ध्वनित होता है कि नायक-नायिका भेद में मीरन की विशेष रुचि थी। बहुत सम्भव है कि रसलीन के **अंग-दर्पण** और **रस प्रबोध** की भाँति मीरन ने भी नखशिख और नायक-नायिका भेद पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ रचे हों।

मूल्यांकन

मीरन १७ वीं शताब्दी ई० के एक श्रेष्ठ हिन्दी कवि हैं। ब्रज भाषा पर उन्हें अधिकार सा प्राप्त है। शब्दों के आनुप्रासिक प्रयोग एवं अर्थध्वनन की क्षमता ने उनकी रचनाओं को सशक्त भावाभिव्यक्ति प्रदान की है। रसानुभूति की बिंबात्मक अभिव्यंजना तथा सरल और वक्र रेखाओं द्वारा ज्यामितिक चित्रों का निर्माण करके हलके गहरे, चटकीले रंगों के सम्मिश्रण से जिन कलात्मक चित्रों को रूपायित किया गया है वे कवि की कला प्रियता के परिचायक कहे जा सकते हैं।

सूरदास ने कृष्ण के भाल पर गुरु, शनि और शुक्र के एक होकर सुशोभित होने की सुन्दर कल्पना की है—**मानहु गुरु सनि सुक्र एक ह्वै लाल भाल पर सोहे री** [**सूर सागर** १०/१३६]। किन्तु यहाँ पर रेखाएँ कुछ धूमिल

---

१. **गोकुल प्रसाद बृज; दिग्विजय भूषण [सं० डॉ० भगवती प्रसाद सिंह] कवि परिचय, पृ० ७६**

सी हैं और गुरु, शनि तथा शुक्र के रंग भी नहीं उभर सके हैं। मीरन ने रवि, चन्द्र, बुध, गुरु, शुक्र और शनि दिवसों को नायिका के बालों के पैर पड़ते हुए दिखाकर इनका मानवी करण तो किया ही है, इनमें अनेक रंगों की जो बिंबात्मक झिलमिली की कल्पना की है उससे सम्पूर्ण भाव चित्र गतिमय दिखायी पड़ता है—

रतन जटित अनूप भानु सोहैं मोहैं,
चन्द ऐसे नख मन हर को हरति हैं।
मांगन मैं बिछिया सु मानो सुमंगल मैन,
बीच-बीच पनाँ बुद्धि छबि को धरति हैं।
कंचन की बांक गुरु सुक्र सेत हीरा ता में,
नीलमनि सनि बिनय मीरन करति हैं।
नाय लाल पाय परे सुन मेरी आली तेरे,
बारन लौ सातो बार पायन परति हैं।।[1]

ज्ञान और ध्यान में प्रियतम का स्मरण करके नायिका पलंग पर लेटी हुई है। उसकी पलकें एक पल को लग जाती हैं। पलक लगते ही पल भर में प्रियतम आ जाते हैं। उनसे मिलने की इच्छा से वह जैसे ही उठती है और निद्रा से जाग पड़ती है वह प्रियतम को अपने पास नहीं पाती। ऐसी स्थिति में नायिका के मनोभाव देखने ही योग्य हैं। वह सोचती है कि और सखियाँ तो सोकर प्रियतम को खो देती हैं और वह ध्यानावस्था से जागकर प्रियतम को गँवा बैठी—

पौढ़ी हुती पलिका पर हौं निसि ज्ञान सौ ध्यान पिया मन लाये।
लागि गईं पलकें पल सों पल लागत ही पल में पिय आये।
ज्यों ही उठी उनके मिलिबे हौं सु जागि परी पिय पास न पाये।
'मीरन' और तो सोइ के खोवत हौं सखि प्रीतम जागि गँवाये।।[2]

---

१. कश्कोल हिन्दी [हस्तलिखित], ६०४/२६ अब्दुस्सलाम कलेक्शन, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

२. साहित्य प्रभाकर [सं० रमाशंकर त्रिपाठी], औसवाल प्रेस, कलकत्ता संवत् १९८२, पृ० ५०१

यहाँ भावों की प्रभावोत्पादकता तो है ही, सम्पूर्ण चित्र हलकी-हलकी रेखाओं के सहारे इस प्रकार उभारा गया है कि एकत्र होकर सभी रेखाएँ एकदम से गहरी हो गई हैं।

घने तरु की छाया में मनमोहन के साथ केलि करने के सुख का स्मरण करके विरहिणी नायिका मन मसोस-मसोस कर रह जाती है। वह उस सुख की चर्चा किससे करे ? उस का चित्त मुरझा गया है। विरहाग्नि के धुएँ से संपूर्ण वन में कूह पड़ गई है और वृक्षों के पत्ते झड़ गये हैं। उसके गाँव के लोग बड़े ही निर्दयी हैं कि इस स्थिति को देखकर भी अग्नि को कोई नहीं बुझाता—

हौं मनमोहन सों मिलि कै करती उहाँ केलि घनी तरु छाहीं।
सो सुख 'मीरन' कासों कहौं मन मार मसोसन ही मुरझाहीं।
पात गये झरि धूम के पुंजन कूह परी सगरे बन माहीं।
गाँव के लोग महा निरदै जो हुता सन कोउ बुझावत नाहीं ॥[1]

मीरन ने नायिका के भेदोपभेदों में भी रुचि ली है, इसका संकेत किया जा चुका है। प्रौढ़ा खंडिता नायिका का एक चित्र द्रष्टव्य है। कामदेव की मूर्ति स्वरूप सुशोभित होने वाला नायक कहीं अन्यत्र रात व्यतीत करके नायिका के पास आया है। उसके अधरों पर लगा हुआ अंजन देखकर और उसे मौन पाकर नायिका बड़ी तीखी चोट करती है। वह कहती है कि मैं उस भामिनी को भली प्रकार समझती हूँ जिसके साथ तुमने रात बिताई है। उसने अंजन से तुम्हारा मुख छाप दिया है जिससे तुम किसी और से बोल भी न सको—

आये हौ मेरे मयाकर मोहन सोहति मूरति मैन मई है।
आरस सों रस सों अनुराग सों रूप सों रीझ सों दीठि ठई है।
रावरे ओंठन अंजन पेखि कै 'मीरन' मो मति तेह तई है।
जानति हौं वह भामिनि और सों बोलन को मुख छाप दई है ॥[2]

१. कङ्कोल हिन्दी [हस्तलिखित] ६०४/२६, अलीगढ़ मु० वि० वि० [पाठन्तर हेतु देखिए शिवसिंह सरोज, पृ० २५२
२. वही, [पाठ भेद के लिए देखिए दिग्विजय भूषण, पृ० ६३]

इसी प्रकार मध्या अधीरा नायिका का उदाहरण भी अवलोकनीय है। नायिका को उसका मनभावन प्रियतम अन्यत्र वास करके आने पर भी मन-भावन ही लगता है। उसके आगमन पर मुग्ध होकर उसके चरणों में स्वयं को अर्पित कर देने में नायिका को तनिक भी संकोच नहीं होता—

नैन रंगे सब सैन जगे ते लखे ते लगे मन को ललचावन।
मेरियौ रीझ किधौं पिय प्यारे को रूप खरो लगै रीझ रिझावन।
मीरन आज के आवन ऊपर भावन ह्वै करिए कर पावन।
आये कहूं अनतै बसिकै मनभावन लागे तऊ मन भावन।।[1]

रसलीन ने मुग्धा के उपभेदों में शैशव-यौवना नायिका की गणना की है।[2] डा० राकेश गुप्त रसलीन की इस नायिका को कृपाराम की वय: सन्धि से भिन्न नहीं मानते।[3] मेरा विचार था कि शैशव यौवना शब्द रसलीन ने विद्यापति से ग्रहण किया है[4]—**शैशव यौवन दुहु मिलि गेल।** किन्तु मीरन द्वारा शैशव-यौवना का उदाहरण देखकर ऐसा बोध होता है कि रसलीन से पूर्व मुग्धा का यह भेद लोकप्रिय था। ध्यान देने की बात यह है कि मीरन रसलीन के पूर्ववर्ती कवि हैं। मीरन ने शैशव-यौवना का जो रूप चित्र प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

धूर कपूर सी पूर रही अंग दूर ते देखि है दामिनि ज्यों घन।
कोमल कंज से हाथ औ पाँय हैं खेलत खेल के बीच दिये मन।
चाल चितौन कहै कबि 'मीरन' कालहि ते कछु और भयो तन।
सैसब में झलक्यो इत जोबन भाल में जैसे पताल धरयौ धन।।[5]

मीरन का नख-शिख शीर्षक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु कटि वर्णन से सम्बन्धित उनका एक कवित्त बहुत ही लोकप्रिय है। कवि की कल्पना शक्ति

---

१. कश्कोल हिन्दी [हस्तलिखित] ६०४/२६, अलीगढ़ मु० वि० वि० पाठान्तर हेतु देखिए शिवसिंह सरोज, पृ० २५२]
२ रसलीन : रस प्रबोध, ८५-९६
३. डा राकेश गुप्त : स्टडीज़ इन नायक नायिका भेद, पृ० १०३
४. डा० शैलेश जैदी : बिलग्राम के मुसलमान हिन्दी कवि, पृ० ३३५
५. हिन्दी के मुसलमान कवि : पृ० ३०५

और कलाप्रियता का इसे एक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। कवित्त इस प्रकार है—

सुमन में बास जैसे सु मन में आवै कैसे,
नाहीं कही जाति नाहीं हाँ कह्यौ चहति है।
सुर सरि सूरजा मैं सूर सुता सोहै जैसे,
बेद के बचन बाँचे साँचे निबहति है।
परिवा कै अम्बर मैं ससि की कला ज्यों रहै,
परिवा कौ अच्छ परतच्छ न लहति है।
जैसे अनुमान मैं प्रमान परब्रह्म जान
कामिनी की कटि कबि मीरन कहति है ॥[1]

मीरन के दोहे भी उनके कवित्त और सवैयों की भाँति सरस हैं। यहाँ उदाहरण स्वरूप तीन दोहे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

जब लगि हिय में धरि सक्यो, तब लगि धरयौ जु धीर।
मीरन अब कैसी बनी, अधिक पिरानी पीर ॥
'मीरन' बिछुरत ही पिया, उलटि गयो संसार।
चन्दन चन्दा चान्दनी, भये जरावन हार ॥
'मीरन' प्यारे अस कह्यो, सपने देखौ मोहि।
तुम बिन नींद न आव ही, कैसे पेखौं तोहि ॥[2]

सारांश यह है कि मीरन की रचनाओं में अनुभूति की तीव्रता, उक्ति वैचित्र्य का तीखापन और कल्पना की गहराई के साथ-साथ सहजता और सौम्यता है। वह एक सफल कवि और श्रेष्ठ आचार्य प्रतीत होते हैं। उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ यदि प्रकाश में आ सकें तो उनकी प्रतिभा के और भी जौहर खुल सकेंगे।

---

१. कश्कोल हिन्दी [हस्तलिखित] ६०४/२६, अलीगढ़ मु० वि० वि० [पाठान्तर हेतु देखिए—साहित्य प्रभाकर, पृ० ५०१, दिग्विजय भूषण, पृ० ६४ तथा शिवसिंह सरोज, पृ० २५२-२५३]
२. गंगा प्रसाद सिंह अखौरी : हिन्दी के मुसलमान कवि, काशी १९२६, पृ० ३०५

परिशिष्ट

नामानुक्रमणिका

ग्रंथानुक्रमणिका